श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता

योग की परिपूर्णता पर श्री कृष्ण का प्रदीपन

टीकाकार

स्वामी भक्ति गौरव नरसिंह

~ विषय सूची ~

प्राक्कथन

भगवद्गीता का उत्कृष्ट संदेश सभी युगों के लिए सदैव सार्थक है और जीवन के सभी पहलुओं में इसे लागू किया जा सकता है। भगवद्गीता में अस्तित्व के रहस्यों के उत्तर हैं - इस संसार में हमारा वास्तविक उद्देश्य क्या है, हमारा आचरण कैसा होना चाहिए एवं अपने जीवन के इस संघर्ष में हम क्यों दु:खी या अक्सर विवश हो जाते हैं।

भगवद्गीता को समझने के लिए, भक्ति-योग की प्रक्रिया के द्वारा इसके भाव में प्रवेश करना आवश्यक है। तदनुसार, गीता के संदेश को मानसिक परिकल्पनाओं के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। अतएव, इसे समझने के लिए, गीता में प्रदीपित उत्कृष्ट प्रक्रिया को वैसे ही अपनाना चाहिए जिस रूप में उसके वक्ता - श्री कृष्ण ने उसे प्रदान किया है।

गीता के संदेश को समझने का सक्रिय सिद्धांत यही है कि उसका श्रवण सीधे योगेश्वर श्री कृष्ण से किया जाना चाहिए, जिन्हें वैदिक शास्त्रों में सर्वत्र परम-पुरुष, परम-सत्य कहकर संबोधित किया गया है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से संवाद करते हैं, इसलिए जो गीता का अध्ययन करते हैं वे सीधे श्री कृष्ण से उसका श्रवण करते हैं।

भगवद्गीता का सिद्धांत एक सच्चे पाठक के लिए स्पष्ट है, लेकिन कुछ लोगों के लिए गीता को समझना चुनौतीपूर्ण होता है, एवं उसकी भाषा उन्हें बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। फिर भी, एक सरल व स्पष्ट अनुवाद एवं व्याख्या द्वारा इस रुकावट को आसानी से पार किया जा सकता है। गीता का अनुवाद एवं उस पर भाष्य आज उतना ही आवश्यक है जितना की पहले कभी था। कालांतर में हमारी मान्यताएं एवं वैश्विक नज़रिये निरंतर बदलते रहते हैं, इसलिए प्रस्तुत अवस्था में गीता को समझने के लिए एक नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

भगवद्गीता का यह अनुवाद और भाष्य एक सरल व प्रगाढ़ ज्ञान प्रदान करता है जो हमे चेतना के एक उच्च स्तर पर ले जाता है, जहां से हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं और आध्यात्मिक परिपूर्णता के जीवन की ओर प्रगति करने में सक्षम हो सकते हैं। आत्म साक्षात्कार का अर्थ है, अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को पूरी तरह पहचानना, और उसकी ओर बढ़ना, जिसके

द्वारा क्रमशः हम भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। जहां प्रकाश होता है, वहां अंधकार नहीं हो सकता, और जहां ज्ञान होता है वहां अज्ञान टिक नहीं सकता। भगवद्गीता न केवल प्रश्नों के ज्ञानपूर्ण उत्तर द्वारा, अपितु यह हमें शुद्ध प्रज्ञा के स्तर पर ऊँचा उठाने की एक प्रगतिशील प्रक्रिया के माध्यम से, जीवन के जटिल रहस्यों को भी सुलझाता है।

गीता की विशेषताओं में एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि पाठक इसके सिद्धांत को अपने दैनिक कार्यों में व्यावहारिक रूप से बिलकुल उसी तरह काम करते हुए देख सकते हैं और इसका अनुभव भी कर सकते हैं, जैसे कि कोई कविता सक्रिय रूप से व्यक्त हो रहा हो। भगवद्गीता का ज्ञान यथार्थ का विज्ञान है - सफलता के लिए उसमें प्रस्तावित समाधान स्पष्ट एवं सक्रिय रूप से मौजूद हैं। इस प्रकार भगवद्गीता हमारे रोजमर्रा के जीवन के लिए आत्म-साक्षात्कार की एक सम्पूर्ण रूपरेखा प्रदान करता है।

जो भाग्यशाली व्यक्ति भगवद्गीता के ज्ञान की गहराइयों में उतरते हैं एवं उसके उपदेशों को आत्मसाथ करते हैं, वे अवश्य ही सफलता प्राप्त करेंगे, जैसे कि गीता के अंतिम श्लोक में कहा गया है -

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिधुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

जहां योगेश्वर श्री कृष्ण हैं, और जहां महान धनुर्धर अर्जुन हैं, वहां सदैव समृद्धि, विजय, ऐश्वर्य, एवं धार्मिकता होगी - यह मेरा दृढ विश्वास है।

- स्वामी भक्तिभावन विष्णु

भूमिका

भगवद्गीता इस संसार में ईश्वरवाद संबंधी विज्ञान का सबसे पुराना एवं सबसे व्यापक रूप से पढ़ा जानेवाला ग्रन्थ है। गीतोपनिषद् के नाम से प्रख्यात भगवद्गीता, पिछले ५,००० वर्षों से भी पूर्व से योग के विषय पर सबसे मुख्य पुस्तक रहा है। वर्तमान समय के अनेक सांसारिक साहित्यों के विपरीत में, भगवद्गीता में किसी भी तरह की कोई भी मानसिक परिकल्पना नहीं है, और यह आत्मा, भक्ति-योग की प्रक्रिया, और परम-सत्य श्री कृष्ण के स्वभाव एवं पहचान के ज्ञान से परिपूर्ण है। इस रूप में, भगवद्गीता दुनिया का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो प्रज्ञता और प्रबोधन में सभी अन्य ग्रन्थों से ऊँचा है।

भगवद्गीता का पहला शब्द ‹धर्म' है। कभी कभी धर्म को गलत रूप से मजहब या मान्यता समझा जाता है, किंतु यह उचित नहीं है। धर्म वह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य या ज्ञान है जो हमारी चेतना को उच्च स्तर की ओर ले जाता है ताकि वह परम-सत्य के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सके। इसे सनातन धर्म भी कहा जाता है, जो सभी जीवों की स्वाभाविक प्रकृती है। भगवद्गीता धर्म शब्द से प्रारंभ होता है - अत: हम शुरुआत से ही समझ सकते हैं कि भगवद्गीता किसी हठधर्मिता या कट्टरपंथी विचारधारा के बारे में नहीं है। वास्तव में, भगवद्गीता परम-सत्य की अनुभूति करने लिए एक सम्पूर्ण विज्ञान है।

एक सावधान व्यक्ति स्पष्ट रूप से देख सकता है कि यह संसार एक भ्रांतिपूर्ण स्थान है जहां अनेक अनसुलझाएं रहस्य उपस्थित हैं। यदि कोई युगों-पुराने प्रश्नों के उत्तर ढूंढ रहे हो जैसे कि "मैं कौन हूँ?", "हम दुःख क्यों भोगते हैं?", "हम कहाँ से आए हैं?", "जीवन का उद्देश्य क्या है?", "मृत्यु के पश्चात क्या होता है?" – तो वे भगवद्गीता के अध्ययन से संतुष्ट होंगे, क्योंकि गीता में इन प्रश्नों के अलावा और भी अन्य प्रश्नों के उत्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। ।

सत्य के एक युवा-जिज्ञासु के रूप में, मैं पहली बार १९६८ में भगवद्गीता के संपर्क में आया। तत्पश्चात् के कई वर्षों तक भारत आया और भगवद्गीता की शिक्षा मैंने २० वी सदी के मुख्य आचार्यों - ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपादजी और स्वामी बी. आर. श्रीधरदेव गोस्वामीजी से प्राप्त की। इन दो महान आचार्यों की

कृपा से भगवद्गीता का मौलिक संदेश मेरे हृदय में समावेशित हो गया, और शीघ्र ही मैंने आत्म-साक्षात्कार के पथ पर चलना प्रारंभ कर दिया।

जीवन के किसी भी पथ पर हम एक चौराहे पर अवश्य पहुंचते हैं। भगवद्गीता के अध्ययन के दौरान मैं जिस चौराहे पर पहले पहुंचा, वह यह था कि क्या मैं व्यक्तित्वपूर्ण परम-सत्य का मार्ग अपनाऊं या निराकारवाद का अनुसरण करूं। क्या मैं आत्मा की परिशुद्धी से वैकुण्ठ लोक के आध्यात्मिक अंतरिक्ष में प्रवेश कर परम-पुरुष श्री कृष्ण के साथ शाश्वत जीवन बिताऊं या मैं निराकारवाद का अनुसरण करते अपने व्यक्तित्वपूर्ण अस्तित्व को मिटाकर ब्रह्म-ज्योति के परमानन्द में विलीन हो जाऊँ? मैंने प्रथम विकल्प को अपनाया, व्यक्तित्वपूर्ण परम-सत्य का मार्ग (भक्ति-योग)।

भगवद्गीता विशेषकर भक्ति-योग के साधकों के लिए है। बहुत वर्षों से अनेक निराकारवादियों ने गीता पर अधिकार जमाने का प्रयास किया है और कभी यह कहकर की वे ही स्वयं श्री कृष्ण हैं - उनके इस प्रस्ताव का एक सरल तथ्य द्वारा खंडन किया जा सकता है कि अत्यंत स्पष्टता से प्रस्तुत किये जाने के बावजूद, भगवद्गीता में श्री कृष्ण का संदेश उनकी समझ में नहीं आया। श्री कृष्ण भगवद्गीता के वास्तविक वक्ता हैं, अत: उन्हें ही गीता के संदेश की सबसे बेहतर समझ है और श्री कृष्ण अठारहवे अध्याय में यह स्पष्ट करते हैं कि भगवद्गीता के उपदेश अनन्य रूप से केवल उन लोगों के लिए हैं जो परम-सत्य को भक्ति-योग के माध्यम से जानने के इच्छुक हैं।

भगवद्गीता अवश्य एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उसके सरल व स्पष्ट उपदेशों को समझने के लिए किसी को विद्वान बनना पड़ेगा। निश्चित ही, अर्जुन, जो भगवद्गीता के पहले छात्र थे, वे कोई विद्वान नहीं बल्कि एक योद्धा थे। भूतकाल में अनेक महान विद्वानों ने, गुरुओं ने, एवं आत्मबोध युक्त ज्ञानियों ने गीता के सहायक के तौर पर ज्ञानवर्धक टिप्पणियां लिखी हैं - जैसे कि, उसका यथार्थ तात्पर्य, उसकी काव्यात्मकता, उसका सिद्धांत, और उसकी गुप्त निधी - जिससे की उनके समय के तथा आगामी पीढ़ियों के लोगों को श्री कृष्ण के उपदेशों की बेहतर समझ हो।

अब हमने २१ वी सदी के पहले दशक को समाप्त कर लिया है और आज हमारे ग्रन्थालयों में भगवद्गीता की अनेक ऐसी विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियां उपस्थित हैं – निश्चित ही, एक और टिप्पणी की अपेक्षा नहीं की जाती!

भगवद्गीता के उपदेश नित्य एवं अपरिवर्तनशील हैं, लेकिन समय, जिससे हम घिरे हुए हैं वह सदैव बदलता रहता है, इसलिए हमारे जीवन का दृष्टिकोण, हमारी प्रस्तुत परिस्थिति, और हमारी आवश्यकताएं सदैव बदलती रहती हैं। इसलिए, इस बदलते काल एवं वर्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार एक और टिप्पणी प्रस्तुत की जा रही है - एक संक्षिप्त टिप्पणी, जिसे अनुवृत्ति कहते हैं।

सत्रहवें शताब्दी के विख्यात टीकाकार, श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार गीता के पहले छः अध्याय कर्म से सम्बन्धित हैं, अगले छः अध्याय भक्ति से, और अंत के छः अध्याय ज्ञान से सम्बन्धित हैं। परन्तु जीवन के सबसे जटिल प्रश्नों के उत्तर, गीता के सभी अठारह अध्यायों में सर्वत्र पाए जाते हैं, जिसमें श्री कृष्ण का अर्जुन के लिए अंतिम व निर्णायक उपदेश, आखिरी अध्याय के ६६ वे श्लोक में पाया जाता है - सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

हमारी अनुवृत्ति में हमने श्री कृष्ण द्वारा बताए गए प्रत्येक श्लोक पर व्याख्या नहीं की है क्योंकि हमे यह लगता है कि अपनी बुद्धी-शक्ति के बल पर श्री कृष्ण से सीधे श्रवण करने से व्यक्ति अधिकतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है, और इसके आगे किसी व्याख्या की सदैव आवश्यकता नहीं होती। अनुवृत्ति का प्रयोग केवल कुछ पहलुओं पर रोशनी डालने एवं आज के संसार की संबद्धता में कृष्ण के कथन पर चिंतन करने के लिए किया गया है। इस अनुवृत्ति में आप गौड़ीय वैष्णव सिद्धांत (अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व) तथा भक्ति-योग की साधना के मुलभूत तत्त्वों पर जानकारी पाएंगे।

कई पाठक भगवद्गीता के ज्ञान पर गहन शोध करना चाहेंगे, और उन पाठकों के लिए हम ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपादजी की "भगवद्गीता यथारूप" (मक्मिल्लन का १९७३ अंग्रेजी संस्करण - Bhagavad Gita As It Is, का हिन्दी भाषांतर स्वरुप) पुस्तक का अध्ययन करने की अत्यधिक संस्तुति करते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती, बलदेव विद्याभूषण, भक्तिविनोद ठाकुर, एवं स्वामी बी. आर. श्रीधरदेव गोस्वामीजी द्वारा लिखी गई गीता पर टिप्पणियां, पढ़ने योग्य अन्य अनुशंसित रचनाएं हैं।

हम उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहते हैं, जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता - योग की परिपूर्णता पर श्री कृष्ण का प्रदीपन पुस्तक की प्रस्तुति को संपन्न करने के लिए हमें प्रोत्साहना एवं अपनी सहायता प्रदान

की है। इस संबंध में हम अपने गुरुभाइयों, स्वामी भक्तिभावन विष्णु, जयदेव, जगदीश्वर, हमारी गुरुबहन धीर-ललिता, तथा हमारे संन्यासी शिष्यों, स्वामी भक्तिविज्ञान गिरि एवं हरिदास बाबाजी महाराज का विशेष रूप से जिक्र करना चाहते हैं।

हम प्रार्थना करते हैं कि यह प्रकाशन परम-सत्य श्री कृष्ण पर अर्पण के रूप में स्वीकृत हो - श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

स्वामी भक्तिगौरव नरसिंह
अगस्त २२, २०११
श्री कृष्ण जन्माष्टमी
गौराब्द ५२६

भगवद्गीता का इतिहास

अनादिकाल से भगवद्गीता पूर्व और पश्चिम दोनों के अनेक महान विचारकों तथा दार्शनिकों के लिए प्रेरणा का प्रधान स्रोत रहा है। बीते समय में, गीता पर पहला भाष्य आदि शंकराचार्य ने लिखा था, जो वे पहले आचार्य थे जिन्होनें गीता को एक पृथक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया। तत्पश्चात्, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, श्रीधर स्वामी आदि जैसे महान आचार्यों ने गीता पर भाष्य लिखे, जिससे आदि शंकराचार्य के निराकार अर्थ प्रकाशन के बिलकुल विपरीत, गीता का मूलभूत भक्तिपरक अभिप्राय व्यक्त हुआ।

पश्चिमी देशों में भगवद्गीता की अत्यधिक प्रशंसा, विद्वान व्यक्तियों तथा दार्शनिकों, जैसे कि हेनरि डेविड थरौं, फ्रेड्रिच फ़न श्लीगल, आर्थर शोपेनहौवर, कार्ल जंग, एवं हर्मन हेस्सा ने की है। गीता को पढ़ने के बाद, विख्यात अमरीकी ट्रैन्सेन्डेन्टलिस्ट रेल्फ वाल्डो एमर्सन ने कहा -

> मैंने भगवद्गीता द्वारा एक शानदार दिन पाया। वह सबसे पहले प्रस्तुत किताबो में से एक है; इसे पढ़ते ऐसा लगता है जैसे कि एक साम्राज्य ही हमसे बात कर रहा हो, कुछ भी छोटा या अयोग्य नहीं, सब कुछ बृहत्, प्रशांत, सुसंगत, एक प्राचीन प्रज्ञा की वाणी जिसने किसी दूसरे युग और वातावरण में चिंतन के माध्यम से उन्हीं प्रश्नों को निपटा लिया है, जिन प्रश्नों से आज हम जूझ रहे हैं। (जर्नल्स आफ रेल्फ वाल्डो एमर्सन)

मूलत: भगवद्गीता एक प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्य - महाभारत का अंश है, जिसकी रचना लगभग ३१०० ईसा पूर्व में महामुनी व्यास ने की थी। भगवद्गीता के अठारह अध्याय, महाभारत के भीष्म-पर्व नामक छठे काण्ड का अंश है, जिसमें कुल मिलाकर ११७ अध्याय हैं। प्रारंभ में व्यासजी ने महाभारत के ८,८०० मूल श्लोकों को लिखा, तत्पश्चात् उनके शिष्य वैशम्पायन एवं सूत ने और भी ऐतिहासिक जानकारी उसमें शामिल की, जिससे अंत में महाभारत में १,००,००० श्लोक हुए - होमर के इलियड (Iliad) से सात गुना बड़ा और किंग जैम्स बैबल से पंद्रह गुना बड़ा।

महाभारत का अर्थ है "बृहत भारत का इतिहास" जो दो झगड़ते राज परिवारों, पाण्डवों (पाण्डु के पुत्रों) और कौरवों (धृतराष्ट्र के पुत्रों) की कथा सुनाती है। पाण्डु और उनके भाई धृतराष्ट्र दोनों हस्तिनापुर के (आधुनिक समय की दिल्ली) कुरु राज-वंश के वंशज थे। हालांकि धृतराष्ट्र ज्येष्ठ थे, वे जन्म से अंधे थे, और इसलिए पाण्डु को राज-सिंहासन सौंपा गया, जिससे वे उसके उत्तराधिकारी बन गए।

यद्यपि महाराज पाण्डु की असामयिक मृत्यु हो गई, और वे अपने पांच पुत्रों को छोड़ गए - युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। जब पाण्डव अल्पवयस्क थे, उनके चाचा धृतराष्ट्र ने उनके प्रतिनिधि के तौर पर तब तक राज-सिंहासन ग्रहण करने का निश्चय किया, जब तक की वे राज्य सम्भालने के योग्य न बन जाएं। लेकिन उनके अपने पुत्रों के प्रति अत्यधिक मोह के कारण, धृतराष्ट्र ने कपट प्रबंध किया जिससे की दुर्योधन के नेतृत्व में उनके अपने पुत्र राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी बन जाएं। इस परिणाम को पाने के लिए, अपने पिता की अनुमति सहित, दुर्योधन ने पाण्डवों की हत्या करने के लिए अनेक प्रयास किए। पितामह भीष्म, चाचा विदुर, और शस्त्रगुरु द्रोण के बुद्धिपूर्ण मंत्रणा के बावजूद दुर्योधन ने अपने चचेरे भाइयों के विरुद्ध षड्यंत्र रचना जारी रखा। फिर भी, श्री कृष्ण की छत्रछाया में रहकर पाण्डव ने उसके सभी जानलेवा षड्यंत्रों को विफल बना दिया।

ऐतिहासिक तौर पर, श्री कृष्ण पाण्डु की पत्नी, रानी कुन्ती के भतीजे थे, और इस हिसाब से वे पाण्डवों के ममेरे भाई थे। परन्तु कृष्ण केवल एक युवराज नहीं बल्कि स्वयं परम-पुरुष भगवान् थे, जो पृथ्वी पर अपनी लीलाएं रचने एवं धर्म की स्थापना करने हेतु अवतीर्ण हुए थे। उनकी धर्मनिष्ठता के कारण पाण्डव सदैव कृष्ण के कृपापात्र थे।

अनेक जानलेवा प्रयासों के पश्चात्, अंत में दुर्योधन पाण्डवों को खोटे पांसों के खेल की चुनौति देते हैं। दुर्योधन कपट से खेल जीत जाते हैं, और पाण्डव अपना राज्य खो बैठते हैं। परिणाम स्वरूप पाण्डवों को बलपूर्वक तेरह वर्षों के वनवास पर भेज दिया जाता है।

अपने तेरह वर्षों के वनवास की समाप्ति के पश्चात्, पाण्डव अपनी राजधानी में लौट आते हैं और दुर्योधन से अपना राज्य वापस करने का अनुरोध करते हैं। जब घमंडी दुर्योधन उन्हें साफ़ मना कर देते हैं, तब वे उनसे कम से कम पांच

गाँवों का राज्याधिकार मांगते हैं। इस पर दुर्योधन बेरुखी से जवाब देते हैं कि वे उन्हें एक सूई घुसाने के बराबर भी भूमी नहीं देंगे।

हालांकि पाण्डव, श्री कृष्ण को दूत बनाकर उन्हें दुर्योधन से सन्धि करने के लिए भेजते हैं, फिर भी दुर्योधन उनकी एक नहीं सुनता। अत: युद्ध अब अनिवार्य हो चुका था।

पश्चिम में सीरिया से लेकर पूर्व में चीन तक के शासक इस युद्ध में भाग लेने आए - अपनी राजनीतिक योजनाओं के अनुसार कुछ कौरवों के पक्ष में रहे, तो कुछ पाण्डवों की धार्मिकता के कारण वे पाण्डवों के पक्ष में रहे। इस भ्रातृघातक युद्ध के दौरान कृष्ण कहते हैं की वे किसी भी पक्ष के लिए शस्त्र नहीं उठाएंगे, लेकिन वे अर्जुन के लिए उनके सारथी का पद स्वीकार करते हैं। तब, ३१३८ इसा पूर्व वर्ष के दिसम्बर के मास में दोनों सेनाएं, कुरुक्षेत्र के पवित्र स्थान पर एकत्रित हुई।

वामन-पुराण में कुरुक्षेत्र के महत्त्व का वर्णन है जिसमें कहा गया है कि कैसे पाण्डव और कौरव वंश के पैतृक कुलपति, धर्मपरायण राजा कुरु ने कुरुक्षेत्र में घोर तपस्याएं की थी। इस कार्य के लिए, कुरु को दो वरदान दिए गए थे - पहला वर यह था कि उस क्षेत्र का नाम कुरु के नाम पर रखा जाएगा, और दूसरा यह कि जो कोई भी कुरुक्षेत्र में देहत्याग करेगा उसे स्वर्ग की प्राप्ती होगी।

भगवद्गीता का प्रवचन कुरुक्षेत्र में युद्ध के पहले दिन हुआ था। जब दोनों सेनाएं युद्ध के लिए तैयार होती हैं, दृष्टिहीन धृतराष्ट्र अपने राजदरबार में अपने वफादार सेवक संजय के साथ बैठते हैं, और उनसे प्रश्न करते हैं कि धर्मनिष्ठ पाण्डव क्या कर रहे हैं। महामुनी व्यास के शिष्य संजय को दिव्य-दृष्टि का सौभाग्य प्राप्त था जिससे कि वे, रणभूमि से दूर, हस्तिनापुर में बैठकर ही युद्ध को देख सकते थे। संजय फिर वृद्ध राजा को श्री कृष्ण और अर्जुन के बीच हुए पावन वार्तालाप को सुनाते हैं। इस प्रकार भगवद्गीता को संजय ने सुना और मानवजाति की आध्यात्मिक भलाई के लिए उसे धृतराष्ट्र को दोहराया।

स्वामी भक्तिविज्ञान गिरि

मङ्गलाचरण

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

मैं अपने आध्यात्मिक गुरुदेव को नमन करता हूँ जिन्होंने मेरी अज्ञान से आवृत अंधी आँखो को, ज्ञान के दीपक से प्रकाशित किया है।

श्रीचैतन्य मनोऽभिष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम् ॥

श्रील रूप गोस्वामी, जिन्होंने इस धरती पर श्री चैतन्य महाप्रभु की मनोकामना पूरी करने के ध्येय की स्थापना की है, वे कब मुझे अपने पदकमलों में आश्रय प्रदान करेंगे?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरुन् वैष्णवांश्च ।
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ॥
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं ।
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण ललिता श्रीविशाखान्वितांश्च ॥

मैं अपने अध्यात्मिक गुरु एवं भक्तिपूर्ण सेवा के पथ पर अन्य सभी गुरुओं के पदकमलों पर सादर नमन अर्पित करता हूँ। मैं सभी वैष्णवों को एवं श्रील रूप गोस्वामी, श्रील सनातन गोस्वामी समेत, श्रील रघुनाथदास गोस्वामी, श्रील जीव गोस्वामी तथा उनके परिकर-जनों को सादर नमन करता हूँ। मैं श्री अद्वैताचार्य, श्री नित्यानन्द प्रभु, श्री चैतन्य महाप्रभू तथा श्रीवास ठाकुर के नेतृत्व में उनके सभी भक्तों को सादर नमन करता हूँ। फिर मैं श्री कृष्ण, श्रीमती राधारानी, और ललिता व विशाखा के नेतृत्व में सभी गोपियों को सादर नमन करता हूँ।

नामश्रेष्ठं मनुमपि शचीपुत्रमत्र स्वरूपं ।
रूपं तस्याग्रजमुरुपुरी माथुरी गोष्टवाटीम् ॥
राधाकुण्डं गिरिवरमहो राधिकामाधवाशां।
प्राप्तो यस्य प्रथितकृपया श्रीगुरुं तं नतोऽस्मि ॥

मैं अपने अध्यात्मिक गुरु के पदकमलों पर नमन करता हूँ, जिनकी कृपा से मैंने श्री कृष्ण का परम नाम प्राप्त किया, शचीपुत्र श्रीमन महाप्रभु की सेवा प्राप्त की, श्री स्वरूप दामोदर, श्रील रूप गोस्वामी और उनके अग्रज श्रील सनातन गोस्वामी, मथुरा का परम धाम, वृन्दावन का आनन्दमय धाम, दिव्य राधा-कुण्ड, पर्वतराज गोवर्धन की संगत प्राप्त की, एवं अपने हृदय में श्रीश्री राधा-कृष्ण की प्रेमपूर्वक सेवा करने की आकांक्षा प्राप्त की।

नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्णप्रेष्ठाय भूतले।
स्वामी श्रीभक्तिवेदान्त प्रभुपादाय ते नमः ॥

गुरुवाज्ञं शिरसिधार्यं शक्त्यावेश स्वरुपिने ।
हरे कृष्णेतिमन्त्रेन पाश्चात्यप्राच्य तारिणे ॥

विश्वाचार्यं प्रवर्याय दिव्य कारुण्यमूर्तये ।
श्रीभागवतमाधुर्य गीताज्ञान प्रदायिने ।

गौर श्रीरूप सिद्धान्त सरस्वती निशेविने ।
राधाकृष्णपदाम्भोजभृङ्गाय गुरवे नमः॥

मैं श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद को सादर नमन करता हूँ, जिन्होंने श्री कृष्ण के पदकमलों का आश्रय लिया है, एवं जो श्री कृष्ण के अत्यंत प्रिय हैं।

अपने गुरु की आज्ञा को अपने शीर्ष पर धारण कर, वे श्री नित्यानन्द प्रभु द्वारा सशक्त हुए, और पश्चिमी देशों में सर्वत्र श्री कृष्ण के पावन नाम के प्रचार द्वारा उन्होंने सभी पतित जीवों का उद्धार एवं मोचन किया।

वे करोड़ो जगद्गुरुओं मे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे दिव्य कृपा के साक्षात स्वरूप हैं। उन्होंने श्रीमद्भागवतम् का मधुर अमृत एवं भगवद्गीता का दिव्य ज्ञान का प्रचार किया।

वे निरंतर अपने गुरु श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती ठाकुर, श्रील रूप गोस्वामी, एवं श्री चैतन्य महाप्रभु की अनन्य सेवा में निमग्न हैं। मैं श्रील प्रभुपाद को अपना विनम्र दण्डवत प्रणाम अर्पित करता हूँ जो श्रीश्री राधा-गोविन्द के पदकमलों के अमृत का आस्वादन करनेवाले एक भौंरे की भांति हैं।

वैराग्यविद्या निजभक्तियोग।
अपाययां मामनविष्यमन्धम् ॥
श्री श्रीधर भक्तिरक्षक नाम ।
कृपाम्बुधिर्यस तामहं प्रपद्ये ॥

मैं श्रील भक्तिरक्षक श्रीधरदेव गोस्वामीपाद् पर आत्मसमर्पण करता हूँ जो एक कृपासिंधु हैं। यद्यपि मैं नेत्रहीन एवं अज्ञान के अंधकार में था, उन्होंने मुझे दिव्य ज्ञान का प्रकाश प्रदान किया। उन्होंने मुझे वैराग्य के सच्चे तात्पर्य की शिक्षा दी एवं दिव्यप्रेम के सर्वोच्च अमृत का मुझे आस्वादन कराया।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यस्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

मैं वैष्णवों के समक्ष नमन करता हूँ, जो कल्पवृक्ष एवं कृपासिंधु की भांति हैं, क्योंकि वे पतित जीवों को भौतिक अस्तित्व से मुक्ति प्रदान करते हैं।

वन्दे श्री कृष्ण चैतन्य नित्यानन्दौ सहोदितौ ।
गौड़ोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ ॥

मैं श्री कृष्णचैतन्य महाप्रभु एवं श्री नित्यानन्द प्रभु को सादर नमन करता हूँ जो सूर्य-चन्द्रमा की भांति हैं। गौडदेश में एकसाथ उदय होकर वे अज्ञान के अंधकार का विनाश करते हैं एवं सब पर अपने अद्भुत आशीर्वाद को न्योछावर करते हैं।

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्णचैतन्य नामने गौरत्विषे नमः ॥

मैं श्री कृष्ण को अपना अत्यंत विनयपूर्ण नमन अर्पित करता हूँ, जो कृष्णप्रेम का वितरण करने हेतु अपने सबसे कृपापूर्ण सुवर्ण स्वरूप में पधारे हैं।

श्री ह्लादिनी स्वरूपाय गौराङ्ग सुहृदाय च ।
भक्तशक्तिप्रदानाय गदाधर नमोऽस्तु ते ॥

मैं श्री गदाधर पण्डित को अपना नमन अर्पित करता हूँ, जो ह्लादिनी शक्ति के साक्षात स्वरूप हैं, जो श्री चैतन्य महाप्रभू के सबसे प्रिय संगी हैं, और जो भक्तों के आध्यत्मिक बल के प्रदाता हैं।

पञ्चतत्त्वात्मकं कृष्णं भक्तरूपस्वरूपकम् ।
भक्तावतारं भक्ताख्यं नमामि भक्तशक्तिकम् ॥

मैं श्री कृष्ण को अपना सादर नमन अर्पित करता हूँ जो अपने पहलुओं - भक्तरूप, भक्तावतार, भक्त अभिव्यक्ति, शुद्ध भक्त, एवं भक्ति शक्ति से अभिन्न हैं।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते ।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तुते ॥

हे कृष्ण, आप कृपासिंधु हो। आप दीनबन्धु एवं जग के स्वामी हो। आप गोपालकों के स्वामी हो, गोपियों के प्रेमी हो, और श्रीमती राधारानी के प्रिय हो। में आपको अपना सादर नमन अर्पित करता हूँ।

जयतां सुरतौ पङ्गोर् मम मन्दमतेर्गती ।
मत्सर्वस्वपदाम्भोजौ राधामदनमोहनौ ॥

श्रीश्री राधा-मदनमोहन की जय हो। मैं शक्तिहीन एवं मन्दमति हूँ, फिर भी आपके पदकमल ही मेरे लिए सबकुछ हैं।

दिव्यद्वृन्दारण्य कल्पद्रुमादः ।
श्रीमद्रत्नागार सिंहासनस्थौ ॥
श्रीमद् राधा श्रील गोविन्ददेवौ ।
प्रेष्ठालीभिः सेव्यमानौ स्मरामि ॥

रत्नों से सुसज्जित मंदिर में, वृन्दावन के कानन में, कल्पवृक्ष के नीचे, श्रीश्री राधा-गोविन्द एक रत्नसिंहासन पर विराजमान हैं, और अपने सबसे निजी परिकरों से सेवित हैं। मैं उनको अपना सादर नमन अर्पित करता हूँ।

श्रीमन् रासरसारम्भी वंशीवटतटस्थितः।
कर्षन् वेणुस्वनैर् गोपीर् गोपीनाथ; श्रियेऽस्तु नः ॥

श्री गोपीनाथ जिन्होंने दिव्य रासलीला रची, अपनी बांसुरी की मधुर ध्वनी से गोपियों के मन को आकर्षित करते हुए, वे वंशीवट के तट पर खड़े हैं। मेरी प्रार्थना है कि श्रीश्री राधा-गोपीनाथ हमपर अपनी कृपा की बौछार करें।

तप्तकाञ्चनगौराङ्गी राधे वृन्दावनेश्वरी ।
वृषभानुसुते देवी प्रणमामि हरिप्रिये ॥

मैं श्रीमती राधारानी को अपना सादर नमन अर्पित करता हूँ, जिनकी अंगज्योति तरल-स्वर्ण की भांति हैं। वे वृन्दावन की महारानी हैं, राजा वृषभानु की सुपुत्रि हैं, और श्री कृष्ण को सबसे प्रिय हैं।

वृन्दायै तुलसीदेव्यै प्रियायै केशवस्य च ।
विष्णुभक्तिप्रदे देवी सत्यवत्यै नमो नमः ॥

मैं पुन:पुन: श्री वृन्दा, तुलसी देवी को अपन नमन अर्पित करता हूँ, जो श्री केशव (कृष्ण) को बहुत प्रिय हैं। हे देवी, आप कृष्णभक्ति की प्रदाता हो, और परम सत्य के धारक हो।

उग्रं वीरं महाविष्णुं।
ज्वलन्तं सर्वतोमुखं ॥
नृसिंह भीषणं भद्रं ।
मृत्युमृत्युम् नमाम्यहम् ॥

मैं श्री नृसिंहदेव को अपना सादर नमन अर्पित करता हूँ, जो उग्र हैं, वीर हैं, और महाविष्णु से अभिन्न हैं। वे प्रज्वलित हैं, और उनका मुख सभि दिशाओं में व्याप्त है। वे अर्ध-मानव, अर्ध-सिंह अवतार हैं जो अत्यंत भयंकर हैं। वे सबसे मंगलमय हैं एवं मृत्यु के भी मृत्यु हैं।

जय श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द
जय अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौरभक्तवृन्द

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

श्री गुरु परम्परा

१. श्री कृष्ण
२. ब्रह्मा
३. नारद्
४. व्यास
५. मध्वाचार्य
६. पद्मनाभ तीर्थ
७. नरहरि तीर्थ
८. माधव तीर्थ
९. अक्षोभ्य तीर्थ
१०. जय तीर्थ
११. ज्ञानसिन्धु तीर्थ
१२. दयानिधि तीर्थ
१३. विद्यानिधि तीर्थ
१४. राजेन्द्र तीर्थ
१५. जयधर्म तीर्थ
१६. पुरुषोत्तम तीर्थ
१७. ब्रह्मण्य तीर्थ
१८. व्यास तीर्थ
१९. लक्ष्मीपति तीर्थ
२०. माधवेन्द्र पूरी
२१. ईश्वर पूरी
२२. श्री चैतन्य महाप्रभु
२३. रूप गोस्वामी (सनातन गोस्वामी, रघुनाथदास गोस्वामी)
२४. कृष्णदास कविराज गोस्वामी
२५. नरोत्तमदास ठाकुर
२६. विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर
२७. बलदेव विद्याभूषण
२८. जगन्नाथदास बाबाजी
२९. भक्तिविनोद ठाकुर
३०. गौरकिशोर दास बाबाजी
३१. भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर
३२. ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
भक्ति रक्षक श्रीधरदेव गोस्वामी
भक्ति प्रमोद पूरी गोस्वामी
३३. स्वामी भक्ति गौरव नरसिंह

श्रील भक्ति गौरव नरसिंह महाराज

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज
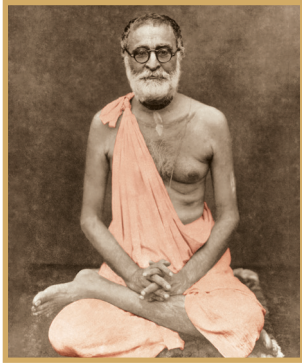
श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद
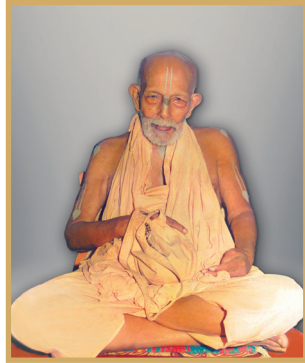
श्रील भक्ति प्रमोद पुरी महाराज

श्रील भक्तिरक्षक श्रीधरदेव गोस्वामी महाराज
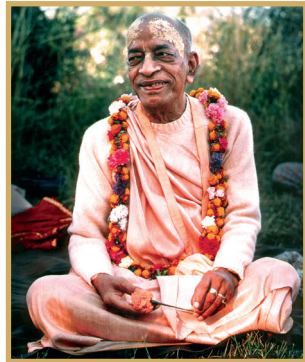
श्रील ए.सी. भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद

श्री श्री गान्धर्विका गोविन्दसुन्दर

श्री चैतन्य महाप्रभु

अध्याय १

सैन्य-दर्शन

धृतराष्ट्र उवाच ।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १-१ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ने कहा - हे संजय! धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में बड़े उत्साह के साथ युद्ध के लिए एकत्रित होकर मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

सञ्जय उवाच।
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ १-२ ॥

संजय ने उत्तर दिया - हे महाराज! पाण्डव-सेना की व्यूहरचना को परखकर आपके पुत्र दुर्योधन अपने गुरु द्रोणाचार्य के निकट गए, और कहे -

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ १-३ ॥

हे महान आचार्य! उस ओर देखिए, आपके मेधावी शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा संगठित, महान पाण्डव-सेना की व्यूहरचना को।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ १-४ ॥

उन पंक्तियों में, युद्ध में भीम तथा महान धनुर्धर अर्जुन के समान, सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद जैसे योद्धा उपस्थित हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ १-५ ॥

महान योद्धा, जैसे कि धृष्टकेतु, चेकितान, काशी के वीर्यवान राजा, पुरुजित, कुन्तिभोज तथा शैब्य भी उपस्थित हैं।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ १-६ ॥

शौर्यवान युधामन्यु, साहसी उत्तमौजस, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पुत्र, निस्संदेह महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥१-७॥

यद्यपि, हे ब्राह्मण श्रेष्ठ, आपको यह भी जानना चाहिए कि हमारी सेना में कौन हमारे सैन्यबल का नेतृत्व करने के योग्य हैं। आपकी जानकारी के लिए मैं उनके नाम दोहराता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥१-८॥

स्वयं आप, भीष्म तथा कर्ण सदैव युद्ध में विजयी रहे हैं एवं अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा व जयद्रथ भी इसी तरह से विजयी रहे हैं।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥१-९॥

ये सभी अनेकानेक अस्त्र-शस्त्रों से लैस हैं और ये युद्ध की कला में प्रवीण हैं। ये एवं कई अन्य योद्धा भी मेरे लिए अपने प्राण तक न्योछावर करने के लिए तैयार हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१-१०॥

भीष्म के पराक्रम द्वारा संरक्षित हमारा सैन्यबल असीमित है। दूसरी ओर, भीम द्वारा संरक्षित विपक्ष का सैन्यबल सीमित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥१-११॥

आपको किसी भी कीमत पर सभी सामरिक बिंदुओं में, भीष्म की सहायता एवं उनको संरक्षण प्रदान करना है।

~ अनुवृत्ति ~

इस संसार में युद्ध कोई नई बात नहीं है। हज़ारो वर्ष पहले भी कुरुक्षेत्र जैसा युद्ध, सही और गलत के बीच की असहमति का निश्चय करने एवं लौकिक धन-

सम्पत्ति के लाभ हेतु होते थे। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक समय तक, इस धरती पर एक भी दिन ऐसा नहीं बीता है की कहीं पर किसी कारण से युद्ध न हो रहा हो। यदी हम इतिहास में देखें तो लोग धन-सम्पत्ति के लोभ एवं कीर्ति हेतु, कभी कभी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए एकत्रित हुए हैं, लेकिन अधिकतर नीचता से ही हुए हैं। यही शृंखला अब इस इक्कीसवी सदी में स्वयं को दोहरा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध मानव सभ्यता में उनके कर्मों के भाग्य का एक अपरिहार्य नियति है।

दूसरी ओर, शांति प्राप्त करना कठिन है। शांति पर चर्चा तो होती है, उसके लिए प्रार्थना भी की जाती है, किंतु कदाचित ही क्षणभर से अधिक समय के लिए उसके दर्शन होते हैं। सभी का अधिकतम जीवनकाल, भले ही वह कितने ही सरल क्यों न हो या तो अपने सामाजिक, या राजनैतिक, या आर्थिक, या मानसिक, या शारीरिक अस्तित्त्व को बनाए रखने के संघर्ष में ही कट जाता है। लगभग सभी के लिए, किसी भी बड़े संकटकाल की अल्पकालिक अभाव ही शांति कहलाती है। परन्तु शांति तो प्रज्ञा की एक अवस्था है, ना कि इस भौतिक जगत के बाहरी मामलों से संबंधित कोई दशा। शांति तो एक आंतरिक अनुभूति होती है।

वेद-शास्त्रों की प्रज्ञता - श्रीमद्भागवतम् में कहा गया है, जीवो-जीवस्य-जीवनं - एक जीव दूसरे जीव का आहार बनता है। अत्यंत आणविक जीव-राशियों से लेकर सबसे विकसित जीव-राशियों तक, एक जीव का पोषण किसी अन्य जीव के विनाश से ही होता है। अतएव, भौतिक अस्तित्व का आधारभूत सिद्धांत ही मुलतः हिंसाग्रस्त होने के कारण दोषपूर्ण है। अतः शांति, लगभग हम सभी के लिए, अपने निर्दिष्ट कार्य के निर्वाह से, तथा इस विश्वास से प्राप्त होती है कि हमने जो किया, वह सही किया। इसी विचार में युद्ध और शांति के बीच का सूक्ष्म भेद निहित है - जिसे हम सही मानते हैं, या जिस विचार को मानने के लिए हम अनुकूलित हैं, दरसल क्या वह सही है?

सही और गलत, या कुछ मामलों में पुण्य और पाप में अंतर पहचानने की क्षमता, व्यापक रूप से हमारे ज्ञान के विस्तार पर आधारित होती है जहाँ से हम अपने निष्कर्ष निकालते हैं। स्वाभाविक है कि अपर्याप्त जानकारी हमें गलत निष्कर्ष पर पहुंचाती है। इसलिए ज्ञान के महत्तम स्रोत को खोज निकालना, परम सत्य के ज्ञान को खोज निकालना और उस ज्ञान की साधना करना ही हमारे परम हित में है।

सारे विश्व में भगवद्गीता ही संभवत: व्यापक रूप से सबसे अधिक पठित ईश्वरवाद पर आधारित ग्रन्थ है। जो कुछ भी ज्ञान हम अन्य सदृश ग्रन्थों, जैसे कि धम्मपद, बाइबल, तोराह, कुरान आदि में प्राप्त कर सकते हैं, वह सब कुछ भगवद्गीता में भी उपलब्ध है। किंतु भगवद्गीता में ऐसा ज्ञान भी है जिसे और कहीं भी पाया नहीं जा सकता। अतएव भगवद्गीता, ज्ञान के सभी अन्य शाखाओं से उत्कृष्ट है। आगे इन अनुवृत्तियों में भगवद्गीता में निहित परम सत्य के ज्ञान की विस्तीर्णता की एक झलक प्रस्तुत की गई है।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१-१२॥

तत्पश्चात्, कुरुवंश के पितामह भीष्म ने दुर्योधन का उत्साह बढ़ाने के लिए, सिंह कि भांति दहाड़ते हुए अपने शंख को ऊंचे स्वर में बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१-१३॥

उस समय, शंख, नगाड़े, ढोल एवं तुरहियां एक साथ बज उठे, और उनकी सम्मिलित ध्वनि आकाश में गूंजने लगी।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१-१४॥

युद्धभूमि के दूसरी ओर, श्वेत वर्णीय सुंदर अश्वों से जुड़े हुए भव्य रथ पर विराजमान, माधव श्री कृष्ण और अर्जुन दोनों ने अपने अपने दिव्य शंखों को बजाएं।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१-१५॥

हृषीकेश श्री कृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख को बजाया। धनंजय अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख को बजाया। वृकोदर भीम ने पौण्ड्र नामक शंख को बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१-१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१-१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१-१८॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख को बजाया। नकुल और सहदेव ने अपने अपने शंख सुघोष व मणिपुष्पक को बजाए। हे राजन, महान धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र, तथा सुभद्रापुत्र पराक्रमी अभिमन्यु समेत सभी ने अपने अपने शंखों को बजाए।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१-१९॥

आकाश एवं धरती में गूंजती हुई इस ध्वनि-उद्घोष के कारण धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए।

~ अनुवृत्ति ~

कुरुक्षेत्र युद्ध के आरंभ में ही दुर्योधन ने अपने विरोधियों के बल का कम आकलन कर एक सामरिक भूल की। संभवतः राज्य प्राप्ती के लोभ से अंधे होकर, या चचेरे भाईओं पाण्डवों से अपने पुराने द्वेष के कारण, वह इस युद्ध में यह सोचकर सम्मिलित हुआ कि उसके विरोधियों का बल काफी सीमित है।

निस्संदेह, द्वेष और लोभ विवेक के अमंगलकारी साथी हैं, जिसके द्वारा गलत निष्कर्ष होते हैं एवं जीवन की निरर्थक क्षति होती है। उदाहरण के तौर पर, आधुनिक समय में वियेतनाम, इराक़, और अफ़गानिस्तान के युद्ध से बेहतर अन्य कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता, जहां पर जनता की इच्छा को अनदेखा कर असंख्य निरपराध प्राणों का नुकसान हुआ।

भगवद्गीता के सभी पारम्परिक टीकाकारों ने कुरुक्षेत्र में दुर्योधन के इस भूल को दर्शाया है। विशेषतः उन्होनें यह सूचित किया है कि दुर्योधन ने यह नहीं पहचाना कि जब परम-पुरुष श्री कृष्ण ही स्वयं अर्जुन का मार्गदर्शन करने के लिए उनके सारथी बने हैं, तो अर्जुन अवश्य ही सबसे दुर्जेय प्रतिद्वंद्वी होगा।

इतिहास इस बात को दर्शाता है कि युद्ध लोभ, द्वेष, या मजहबी मतभेदों के कारण किए जाते हैं। किन्तु यह सोचना कि “ईश्वर हमारी ओर हैं”, यह केवल एक सहूलियत की बात है। यह विचार कि «ईश्वर हमारी ओर हैं”, अवश्य एक सांत्वना देनेवाला विचार है, और फौजों ने इसी सांत्वना के बलबूते पर ही अब्राहमिक धर्मों के अभ्युदय के समय से लेकर आज तक लगभग सभी युद्धों में युद्ध की है। हालाँकि समस्या सर्वदा यही रही है कि इन सभी युद्धों में दोनों पक्ष धार्मिकता का झंडा उठाकर बस यही ठान लेते हैं कि “यह ईश्वर की इच्छा है!” इस चित्तवृत्ति को कभी कभी “सुगमता का सिद्धांत” या “Theology of convenience” कहा जाता है।

इस तरह के मत-प्रचार कि “स्वयं ईश्वर हमारे कारण के समर्थक हैं”, आज भी फौजों को उत्तेजित करने या आत्मघाती हमलावरों को भडक़ाने में प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। यह एक सत्य कथन है कि इतिहास के इन अंधकारमय कालावधियों में, किसी भी अन्य पृथक अप्राकृतिक दुर्घटनाओं से अधिक लोग ईश्वर के नाम पर मारे गए हैं और इसी कारण अधिक निरपराध भी मृत्यु के घाट उतारे गए हैं।

तो प्रश्न यह उठता है कि कैसे कुरुक्षेत्र का युद्ध इन आधुनिक समय के युद्धों से भिन्न है, जो या तो लोभ के कारण किए जाते हैं या धार्मिक कट्टरपंथियों के बीच हुआ करती हैं? आसानी से यह कह देना कि “क्योंकि परम-पुरुष कृष्ण स्वयं पाण्डवों के समर्थक थे इसलिए अपने शत्रुओं का वध करने के लिए पाण्डव सही थे?”, क्या यह युद्धप्रियता नहीं? अंतर यह है कि कुरुक्षेत्र का युद्ध इसलिए नहीं हुआ था कि एक पक्ष का धार्मिक मत दूसरे से भिन्न था। कुरुक्षेत्र एक भ्रात्रघातक युद्ध था - सत्ता का लोभ, धर्म का उल्लंघन, ईर्ष्या, पारिवारिक बंधन, और स्वयं को केवल एक स्थूल शरीर समझ लेना, आदि जैसे मानुषिक दोषों के माध्यम से उत्पादित एक कुल-वैर था।

किंतु इतिहास के किसी भी अन्य युद्धों के विपरीत कुरुक्षेत्र का युद्ध सभी भावी पीढ़ियों की भलाई के लिए एक अगाध सबक दर्ज कर गया है। यह सबक श्री कृष्ण ने भगवद्गीता के रूप में सिखाया है - ऐसा सबक जो मानवजाति को अपने सांसारिक कमजोरियों को अभिभूत करने, अलौकिक स्थिति पर प्रतिष्ठित होने व आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ती के योग्य बनाता है।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते । १-२० ॥

धृतराष्ट्र से संजय ने कहा - हे राजन, जैसे ही युद्ध आरंभ होनेवाला था, आपके पुत्रों को युद्ध के लिए तैयार देख, हनुमान के पताके से सुसज्जित रथ पर विराजमान अर्जुन ने अपना कमान को उठाया और हृषीकेश श्री कृष्ण से इस प्रकार से कहा -

अर्जुन उवाच ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ १-२१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ १-२२ ॥

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलिए, ताकि मैं उन योद्धाओं को देख सकूँ जिनसे मुझे युद्ध है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ १-२३ ॥

युद्धभूमी पर एकत्रित हुए उन सभी योद्धाओं को मुझे देखना है, जो धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्र दुर्योधन को प्रिय हैं।

सञ्जय उवाच ।
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ १-२४ ॥

संजय ने कहा, हे भारत, उनकी विनती पर श्री कृष्ण, अर्जुन के भव्य रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले गए।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ १-२५ ॥

भीष्म, द्रोण एवं विश्व के सभी अन्य सेनानायकों के समक्ष, श्री कृष्ण ने कहा - हे पार्थ, इस रणभूमि में एकत्रित हुए कुरु राज-परिवार को देखो!

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥१-२६॥

दोनों सेनाओं के मध्य, अर्जुन ने पितातुल्य परिजन, पितामह, गुरुजन, मामा, भाई, बेटे, पोते, ससुर और बंधुजनों को गौर से देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥१-२७॥

युद्धभूमि में अपने समक्ष सगे-संबंधियों को देखकर, कुन्तिपुत्र अर्जुन, दुख एवं करुणा के कारण शोकाकुल हो गया।

अर्जुन उवाच ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥१-२८॥

अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण, अपने सगे-संबंधियों को युद्ध के लिए तैयार देख, मेरे अंगों से मेरा बल क्षीण हो रहा है, और मेरा मुंह सूख रहा है।

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण अर्जुन के रथ के सारथी बने इस लिए उन्हें पार्थसारथी के रूप में भी जाना जाता है। चूंकि कृष्ण अर्जुन के मित्र व साथी थे, अर्जुन ने कृष्ण से अपने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले जाने का अनुरोध किया, ताकि वह यह देख सके कि उसे किसके विरुद्ध युद्ध करना है। परन्तु शत्रु को अपने समक्ष देखते ही अर्जुन अचंभित हुए और भ्रांति में पड़ गए।

कुरुक्षेत्र का मंच अब तैयार हो चुका था जहां से श्री कृष्ण भगवद्गीता का उपदेश देने वाले थे- दुःख से अभिभूत अर्जुन, अपने कर्तव्य से विचलित हो चुके थे। क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन युद्ध के लिए कर्तव्यबद्ध थे, किंतु अपने समक्ष खड़ी विपत्ति को देखकर वह आगे न बढ़ सके।

यह संसार दोष, खतरों, दुर्घटनाओं, शोषणकारी क्रूर व घृणास्पद योजनाओं आदि जैसे अन्य बहुत से समरुप लक्षणों से भरपूर है, जिन्हें आप अवश्य अशुभ ही कहेंगे। आयरलैंड के राजनीतिज्ञ व तत्त्वज्ञ एडमंड बर्क ने कहा है,

"पाप का विजयी होने का एक ही कारण है, और वह है कि अच्छे लोगों का चुपचाप देखते रह जाना और विरोध में कुछ न करना।"

अर्जुन ने मन ही मन में युद्ध न करने की ठान ली थी, यह सोचकर कि कुल के नाश का अर्थ है परंपरा का नाश, अधोगति का आगमन, अनिष्ट संतानोत्पत्ति इत्यादि जिनका परिणाम केवल अशुभ ही हो सकता है। किंतु अंदर ही अंदर अर्जुन यह जानते थे कि कुछ न करने से भी इसका परिणाम दुष्कर ही होगा।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥१-२९॥

मेरे शरीर में कंपन हो रहा है, मेरे रोंगटे खड़े हो गए हैं, मेरी त्वचा जल रही है, और गांडीव से मेरा पकड़ फिसल रहा है।

नच शक्नोम्यवस्थातुंभ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥१-३०॥

हे कृष्ण, हे केशव, मेरा मन भ्रमित हो गया है, मैं धैर्य नहीं रख पा रहा हूँ, और मुझे अशुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं।

नच श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥१-३१॥

हे कृष्ण, इस युद्धभूमि में अपने स्वजनों का वध कर, कोई लाभ दिखाई नहीं देता। ना तो मुझे विजय की इच्छा है, न ही राज्यसुख के भोग की।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥१-३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥१-३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि नतोऽपि मधुसूदन ॥१-३४॥

हे गोविन्द, जिनके लिए हम राज्य, सुख या जीवन की कामना करते हैं, जब वे ही हमारे विरुद्ध इस युद्धभूमि में एकत्रित हो जाते हैं, तो इनका क्या मोल रह जाता है? राज्य और उसके भोग का क्या उपयोग जब जिनके लिए हम इन

सब की कामना करते हैं - हमारे गुरुजन, अग्रज, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पोते, बहनोई और अन्य सगे-संबंधी जो इस रणभूमि में उपस्थित हैं - वे स्वयं इस युद्ध में अपने राज्यों एवं प्राणों को जोखिम में डालने के लिए तत्पर हैं? हे मधुसूदन, यदि वे मुझे मारना भी चाहें, तो भी मुझे उनका वध करने की कोई इच्छा नहीं है।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥१-३५॥

हे जनार्दन (सभी जीवों के पालनहार), इस संसार पर शासन करना तो क्या, यदि हम समस्त त्रिभुवन पर साम्राज्य पा लें, तब भी धृतराष्ट्र की संतानों का वध करके हम कैसे सुखी हो पाएंगे?

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुंधार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥१-३६॥

हे माधव, यदि हम अपने ही सगे-संबंधियों का वध करते हैं, भले ही वे हमारे विरुद्ध क्यों न हो, तो हम पर घोर दुर्भाग्य अवश्य ही आएगा। धृतराष्ट्र के पुत्रों एवं अपने बंधुओं का वध करना उचित नहीं है। अपने ही परिजनों का वध करके हम कैसे सुखी हो सकते?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥१-३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥१-३८॥

हे जनार्दन, हालांकि इन लोगों के चित्त लोभमय हैं, और इन्हें अपने ही मित्रों से कपट करने या अपने संबंधियों का वध करने में कोई दोष दिखाई नहीं दे रहा है, अत: इस परिणाम को जानते हुए भी हम ऐसे घोर कार्य में क्यों लगें?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥१-३९॥

स्वजनों के नाश से कुल की परंपरा सदैव के लिए नष्ट हो जाती है और जब रीति-रिवाज़ मिट जाते हैं, तो समस्त वंश में अधर्म प्रचलित हो जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥१-४०॥

हे कृष्ण, हे वाष्र्णेय, जब अधर्म फैलता है तब कुल की स्त्रियां कलुषित हो जाती हैं। स्त्रियों के धर्म-पतन से अवांछित संतानों की उत्पत्ति होती है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥-४१॥

अवांछित संतान, कुल और कुल की परंपरा के विध्वंसक, दोनों के समक्ष एक असहज स्थिती उत्पन्न करते है। श्राद्ध-कर्म के भंग हो जाने से उनके पूर्वजों का भी पतन हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥१-४२॥

कुल की परंपरा के विध्वंसक के ऐसे अनर्थकारी व्यवहार से अवांछित संतानों की आबादी बढ़ती है जो सभी पारिवारिक और सामाजिक परंपराओं को जड़ से मिटा देता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥१-४३॥

हे जनार्दन, मैंने सुना है कि जो व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक या आध्यात्मिक मान्यताओं का नाश करता है, वह सदा के लिए घृणित अवस्था को भुगतता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥१-४४॥

ओह! हमने कितना घोर पाप करने की ठानी है - केवल राज्यसुख भोगने के लिए अपने ही स्वजनों का वध करने चले हैं!

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥१-४५॥

यदि धृतराष्ट्र के पुत्र, अपने हाथों में लिए अस्त्र से, इस युद्धभूमि में मुझ निहत्त्ते और निर्विरोध का वध कर दें, तो उसे ही मैं बेहतर समझंगा।

सञ्जय उवाच ।
एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥१-४६॥

संजय ने कहा - इस प्रकार कह कर अर्जुन ने अपने धनुष एवं वाणों को उतारकर रख दिया और रथ पर भारी मन से शोक में डूब कर बैठ गया।

~ अनुवृत्ति ~

आलंकरिक रूप से हम यह कह सकते हैं कि अर्जुन के 'एक ओर कुआँ था, तो दूसरी ओर खाई थी। इसलिए, अर्जुन ने समझदारी दिखाते हुए श्री कृष्ण से सलाह माँगा। यह जानते हुए कि श्री कृष्ण स्वयं परम सत्य हैं, सकल ऐश्वर्य व ज्ञान से परिपूर्ण हैं, अर्जुन ने श्री कृष्ण से अनुरोध करते हुए उन्हें उनके नामों से संबोधित किया - हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी), अच्युत (अचूक), केशव (केशि दानव के संहारक), गोविन्द (इन्द्रियों को परितृप्त करनेवाले), मधुसूदन (मधु दानव के संहारक), जनार्दन (सभी जीवों के पालनहार), माधव (लक्ष्मीजी के स्वामी), एवं वार्ष्णेय (वृष्णी वंशज)।

अर्जुन ने कृष्ण को उनके विभिन्न नामों से इसलिए संबोधित किया क्योंकि स्वयं को एक धर्म-संकट में पाकर वे कृष्ण की अनुकंपा का आह्वान करना चाहते थे। श्री कृष्ण हृषीकेश हैं, यानि वे इन्द्रियों के स्वामी हैं, अत: वे कभी भी विभ्रांत या माया-वश नहीं हो सकते। वे अच्युत हैं, अत: वे कोई स्खलन ही नहीं कर सकते और वे गलत निर्णय भी नहीं ले सकते। अर्जुन को कृष्ण की सलाह की अत्यंत आवश्यकता थी - ऐसी सलाह जिस पर वह निर्भर कर सके और जो उसके व्याकुल मन व इन्द्रियों को शांत कर सके।

श्री कृष्ण केशव हैं, केशि दानव के संहारक, जो कृत्रिम महानता की मिथ्याबोध को दर्शाता है। यह बात प्रसिद्ध है की श्री कृष्ण ने पृथ्वी पर अपनी प्रकट लीला में कई दानवों का संहार किया, और यह सभी दानव हमारे आध्यात्मिक जीवन की उन्नती में बाधा डालने वाले सभी नकारात्मक लक्षणों को दर्शाते हैं, जैसे कि नाम व यश का लालच, कुटिलता, मिथ्याभिमान, धोखेबाजी, क्रूरता, मूर्खता, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मिथ्योपदेश, बुरी आदतें आदि। अर्जुन को विश्वास था कि श्री कृष्ण की शरण ग्रहण करने से उनके परिस्थिति की सभी बाधाएं दूर हो जाएंगी। कृष्ण को वृष्णी वंशज या वार्ष्णेय के नाम से संबोधित करते हुए

अर्जुन कृष्ण को वंशगत परंपराओं की महत्त्वता का स्मरण कराना चाहते थे, और इन्हीं परंपराओं का विनाश ही अर्जुन की सबसे बड़ी दुविधा थी।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सैन्यदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए सैन्य-दर्शन नामक प्रथम अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय २

सांख्य योग

सञ्जय उवाच ।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥२-१॥

संजय ने कहा - तब श्री कृष्ण ने अर्जुन से ये शब्द कहे, जब उसका हृदय करुणामय एवं उसकी आँखों में आंसु भरे हुए थे।

श्रीभगवानुवाच।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२-२॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - अर्जुन, इस संकटपूर्ण घड़ी में तुम्हे इस भ्रांति ने कैसे जकड़ लिया है? एक आर्य के लिए यह उचित नहीं, और ना यह उसे स्वर्ग की ओर ले जाता है। बल्कि, यह अपयश का कारण बन सकता है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥२-३॥

हे पार्थ, ऐसी नामर्दी छोड़ो। तुम्हे यह शोभा नहीं देती। हे परन्तप (शत्रुओं को दण्ड देनेवाला), उठो और इस प्रकार के दुर्बल हृदय के वश में मत आओ।

अर्जुन उवाच ।
कथं भीष्ममहंसङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजाविरिसूदन ॥२-४॥

अर्जुन ने उत्तर में कहा - हे मधुसूदन, युद्ध में भीष्म और द्रोण जैसे बुजुर्गों पर मैं कैसे अपने बाणों की वर्षा कर सकता हूँ, जब वे मेरे सम्मान के पात्र हैं?

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥२-५॥

अपने सम्माननीय अग्रजों का वध करने से तो बेहतर है कि मैं इस संसार में भीख माँगकर अपना जीवन यापन करूं। अन्यथा, जिस धन-संपत्ति का हम यहां उपभोग करेंगे वह उनकी लहू से लथ-पथ होगी।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२-६॥

मै नहीं जानता कि क्या हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है - उनपर विजय प्राप्त करना, या उनसे पराजित हो जाना। यहां, हमारे समक्ष एकत्रित धृतराष्ट्र के पुत्रों का यदी हम वध करते हैं तो मुझमें जीवित रहने की कोई अभिलाषा नहीं रहेगी।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥२-७॥

मेरी स्वाभाविक क्षत्रीयता कमजोर हो रही है और भ्रम के कारण मैं धर्म के मार्ग को पहचान नहीं पा रहा हूँ। कृपया यह बताएं कि मेरे लिए सबसे हितकारी कार्य क्या है। अब मैं स्वयं को आपके शिष्य के रूप में समर्पित करता हूँ। कृपया मुझे उपदेश प्रदान करें।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥२-८॥

यदि मैं एक अप्रतिम संपन्न सामराज्य और देवों जैसी शक्ति भी प्राप्त कर लूँ, फिर भी इन चीजों में मैं ऐसा कुछ नहीं देख रहा जो मेरे इन्द्रियों को क्षय कर रहे इस शोक को मिटा सके।

~ अनुवृत्ति ~

यहां, द्वितीय अध्याय से ही भगवद्गीता वस्तुतः प्रारंभ होती है। भगवद्गीता का यथाशब्द अर्थ है भगवान् का गीत' और भगवान् का अर्थ है परम सत्य। भगवद्गीता में यहां पर पहली बार श्री कृष्ण को भगवान् कहकर संबोधित किया जाता है। पराशर मुनि जैसे वैदिक विद्वानों के अनुसार भगवान् वे हैं जो संपूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, सौंदर्य, ज्ञान, व वैराग्य के स्वामी हैं।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गणः ॥

भगवान् वे हैं जिनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, सौंदर्य, ज्ञान, व वैराग्य के लक्षण संपूर्णता में पाए जाते हैं। (विष्णु पुराण ६.५.४७)

इसके अलावा, सोलहवें शताब्दी के वैष्णव तत्त्वज्ञ जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् हैं भजनीय गुण च अनन्त च नित्यः' - वे जो सर्व-पूजनीय गुणों के स्वामी हैं, और जिनका सर्वाकर्षणी स्वभाव ऐसा है कि वे हमारा स्नेह व श्रद्धाभाव अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

आधुनिक समाज में भगवान् के अस्तित्व में होने न होने के विषय पर बहुत चर्चा होती है। भगवान् का अस्तित्व निश्चित करने से पहले यह परिभाषित करना आवश्यक है कि 'भगवान्' शब्द का अर्थ क्या है। तदनुसार, प्राचीन भारत के सत्यान्वेषी ऋषियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि भगवान् वास्तव में हैं तो वे समस्त संसार के स्वामी व अधिकारी होंगे, सर्वशक्तिमान होंगे, सबसे प्रसिद्ध होंगे, सबसे सुंदर होंगे, सर्वज्ञ होंगे, और साथ-साथ वे अनासक्त या त्यागी भी होंगे। सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात उन सत्यान्वेषी ऋषियों ने निश्चित किया है कि केवल श्री कृष्ण ही वस्तुता के परम स्रोत या परम सत्य हो सकते हैं, और दरसल वे ही हैं। इस विष्कर्ष परिणाम की अनेक संतों ने युगो-युगो से (१०,००० बीसी पूर्व से) पुष्टि की है और वैदिक शास्त्रों में, जैसे कि उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, वेदान्त सूत्र, श्रीमद्भागवतम् और ब्रह्म-संहिता आदि शास्त्रों में इसकी व्यापक रूप से व्याख्या की गई है।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्व कारण कारणम् ॥

कृष्ण परमेश्वर हैं। उनका रूप सत् चित् एवं आनन्द से बना है। वे समस्त अस्तित्व के स्रोत हैं। वे गौ और इन्द्रियों के स्वामी हैं। उनका कोई अन्य स्रोत नहीं है और वे स्वयं ही सभी कारणों के मूल कारण हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.१)

एते चांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

भगवान् के विभिन्न अवतार या तो उनकी पूर्णविभूति के अंश हैं या उनकी पूर्णविभूति के अंशों के अंग हैं। परन्तु कृष्ण इन सभी अवतारों के मूलस्रोत हैं। जब अमंगलकारी शक्तियां भगवान् के भक्तों को व्याकुल करती हैं तब वे उनकी रक्षा हेतु प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं। (श्रीमद्भागवतम् १.३.२८)

हरिरेव सदाराध्यम् सर्वदेवेश्वरेश्वरम् ।
इतरे ब्रह्म-रुद्राद्य नवजेयम् कदाचन ॥

संपूर्ण जगत के स्वामी के रूप में केवल श्री हरि (कृष्ण) ही आराध्य हैं। ब्रह्म, शिव और अन्य सभी देवी-देवताएं कभी भी इस नियम का उल्लंघन नहीं करते। (पद्म-पुराण)

यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यम् परब्रह्मानराकृतिम् ।

जब परम पुरुष अपने मनुष्य सदृश रूप में अवतीर्ण होते हैं, वे परब्रह्म कृष्ण हैं। (विष्णु पुराण ४.११.२)

तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत् ।

अत: कृष्ण ही परम पुरुष हैं। उनका ध्यान करें। उनका ही आनंद लें। उनकी आराधना करें व उन के लिए भोग चढ़ाएं। (गोपाल-तापनी उपनिषद् १.५४)

कृषि वाचक: शब्दो णश्च निर्वृति वाचकः ।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिदीयते ॥

'कृष' शब्दांश कृष्ण के सर्वाकर्षी लक्षण को सूचित करता है और 'ण' उनके दिव्य आनंद को। जब 'कृष' शब्दांश को 'ण' से जोड़ा जाता है, तब 'कृष्ण' शब्द बनता है जो परम सत्य को सूचित करता है।

रणभूमि में कुछ ही समय में वीरगती प्राप्त करने वालों के प्रति अर्जुन करुणामय हो गए हैं। वस्तुत: उनका दु:ख इतना ज्यादा है कि वे अपने शत्रुओं का वध करने के बजाय स्वयं अपने प्राण देने के लिए तैयार हैं। किंतु अर्जुन एक कुलीन क्षत्रीय है और इसी कारण कृष्ण उन्हें अपने हृदय की दुर्बलता को त्याग करने की सलाह देते हैं। यदि कोई क्षत्रीय है तो शत्रु का सामना करना उसका कर्तव्य है ना की पीछे हटकर दुबक जाना। युद्ध करना अवश्य एक दु:खदायक परिस्थिति है, किंतु जब धर्म का अनुसरण करना होता है तब युद्ध अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल में आक्रामकता घृणाजनक थी और समाज में एवं देशों के बीच वह बिलकुल ही वर्जित हुआ करता था। किंतु जब अतिक्रमण होता तब प्रतिकार या युद्ध स्वीकार्य था। महर्षी वसिष्ठ के अनुसार छ: प्रकार

के अतिक्रामक होते हैं और मनु-संहित के अनुसार इनका सामना एक घातक प्रतिकार से होना चाहिए।

अग्निदो गरड़श्चैव शस्त्र-पाणिर्धनापहः ।
क्षेत्र-दारापहारी च षड़ेते ह्याततायिनः ॥

घर में आग लगानेवाला, विष घोलनेवाला, घातक शस्त्रों से हमला करनेवाला, राज्य की संपत्ति हड़पनेवाला, आक्रमण कर राज्य पर कब्ज़ा करनेवाला, और परिवार के सदस्यों का अपहरण करनेवाला - इन सभी को आक्रमणकारी समझा जा सकता है। (वसिष्ठ-स्मृति ३.१९)

आततायिनमायान्तम् हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधेदोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

बिना हिचकिचाहट के एक क्षत्रीय को अतिक्रामकों का वध करना चाहिए, क्योंकि उनकी हत्या से पाप नहीं होता है। (मनु-संहित ८.३५०)

ये सभी श्लोक सामाजिक सिद्धांत (अर्थ-शास्त्र) में दिए गए नियमों के अनुसार हैं। तथापि, धार्मिक सिद्धांत (धर्म-शास्त्र), जिसे अर्थ-शास्त्र से ऊँचा माना जाता है, वह कहता है कि कभी किसी प्राणी को क्षति नहीं पहुंचाना चाहिए (मा हिंसयत् सर्वभूतानि) - तो फिर परिवार के सदस्यों या बुजुर्गों का क्या कहना? ।

अर्जुन की यही दुविधा थी। कृष्ण का कोमल-हृदयी भक्त होने के कारण, अर्जुन अपने परिजनों के विरुद्ध शस्त्र उठाने से विमुख हो गए थे, किंतु एक क्षत्रिय होने के कारण वे नियति का सामना करने के लिए मजबूर भी थे। इस दुविधा की दशा में अर्जुन ने कृष्ण से अपने सखा होने के नैमित्तिक संबंध को टाल कर उन्हें अपना गुरु मान लिया।

वैदिक ज्ञान के अनुसार, अनगिनत ग्रहो एवं समांतर ब्रह्माण्ड अस्तित्व में है जहां पर जीवन पाया जा सकता है। इनमें से कुछ ग्रहों व ब्रह्माण्डों में जीवनस्तर, पृथ्वी पर हमारे जीवनस्तर से उच्च हैं, तो कुछ में पृथ्वी से निम्न। यदि कोई अपने जीवनकाल में अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है तो तदनुसार वह उच्च लोकों में जन्म की ओर प्रस्थान करता है। लेकिन यदि वह अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता है तो अगले जन्म में केवल कलंक एवं निचले लोकों में निम्नगमन उसकी प्रतीक्षा करते हैं।

अर्जुन के द्वारा अपने निर्धारित वैदिक कर्तव्यों का नहीं पालन करने के कारण कृष्ण 'अनार्य' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है आर्य नहीं होना। आर्यन कौन हैं और वे कहाँ से आए हैं, इस बात पर सदियों से बहस चलती आ रही है। इस तरह की अधिकांश विवेचनाएं शारीरिक उपाधियों पर निर्धारित होती हैं और एक जाति के लोगों को दूसरे से श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए की जाती हैं। परन्तु भगवद्गीता में, श्री कृष्ण के वचनानुसार, आर्यन वे हैं जो वैदिक निर्देशों के अनुसार अपने धर्मों का पालन करते हैं। अतएव यह समझा जा सकता है कि आर्यन शब्द कोई विशेष जाति के लोगों से नहीं बल्कि एक जीवन जीने की कला से, एक जीवनशैली से संबंधित है।

परमात्मा और आत्मा के सनातन अस्तित्व का ज्ञान ही समस्त वैदिक प्रज्ञाता की कुंजी है। इस अध्याय में, अर्जुन के लिए कृष्ण के उपदेशों का यही केंद्रीय विषय है।

सञ्जय उवाच ।
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥२-९॥

संजय ने कहा - श्री कृष्ण से इस प्रकार कहकर, सजग, शत्रु-विजयी अर्जुन ने घोषित किया, "हे कृष्ण, हे गोविन्द, मैं युद्ध नहीं करूंगा!", और फिर मौन हो गए।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥२-१०॥

हे भरत वंशज, वहां उन दोनों सेनाओं के मध्य, श्री कृष्ण (हृषीकेश) मुस्कराते हुए शोक में डूबे अर्जुन से इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच ।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतातूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२-११॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - तुम एक बुद्धिमान की तरह बात कर रहे हो, परन्तु तुम उस बात पर शोक कर रहे हो जिस पर शोक करना बेकार है। बुद्धिमान ना तो जीवित व्यक्तियों पर न मृतक लोगों पर शोक करते हैं।

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२-१२॥

ऐसा कभी नहीं था जब तुम नहीं थे, या मैं नहीं था या यहां उपस्थित सारे योद्धा नहीं थे। और ना ही भविष्य में कभी हम नहीं होंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२-१३॥

जिस प्रकार आत्मा, बाल्यावस्था, युवाकाल, और बुढ़ापे के दैहिक रूपान्तरण से गुज़रती है, उसी प्रकार मृत्यु के समय वह एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥२-१४॥

हे कुन्तिपुत्र, इन्द्रियों और उनके अनुरूपी विषय-वस्तुओं की अंत:क्रिया ही ठंडक, गर्मी, सुख और दु:ख जैसी संवेदनाएं उत्पन्न करती हैं। ये संवेदनाएं अस्थायी होने के कारण आती-जाती रहती हैं। अतएव, हे भारत, तुम इनका सहन करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥२-१५॥

हे आर्य, एक संयमी जो सुख और दुःख दोनों में संतुलित रहता है, और अशांत नहीं होता, वह अवश्य मोक्ष की प्राप्ती के योग्य है।

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन शरीर की मृत्यु या उसके जाने से मोह ग्रसित थे, किंतु श्री कृष्ण अर्जुन के इस शोक से सहमत नहीं थे और वे अर्जुन को स्मरण दिलाते हैं कि सभी जीव नित्य हैं। कृष्ण कहते हैं कि स्वयं उनका, अर्जुन का और रणभूमि पर उपस्थित सभी योद्धाओं के व्यक्तित्व सदैव कायम रहते हैं - वे अनादि काल से अस्तित्व में हैं और भविष्य में भी वे निरंतर अस्तित्व में रहेंगे।

अर्जुन वेद-शास्त्र में निपुण हैं और वे कृष्ण के मित्र भी हैं, किंतु इस विद्वत्तापूर्ण संभाषण के भावी श्रोताओं के लिए अर्जुन केवल इस प्रवचन की प्रेरणा हेतु भ्रांति व व्याकुलता को प्रकट कर रहे हैं। अर्जुन को सिद्धपुरुष माना जाता है और इसलिए वे अविद्या और भ्रम से बिलकुल ही परे हैं।

हालाँकि आत्मा नित्य होती है, किंतु भौतिक नश्वर शरीर में यह लक्षण नहीं होता। एक शरीर, जन्म, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु से हो कर गुज़रता है। मृत्यु के समय, आत्मा अपने कर्म के अनुसार एक दूसरे शरीर में स्थानांतरण कर इस भौतिक आवर्तन को फिर से प्रारंभ करती है। जो स्थूल शरीर और आत्मा के बीच का अंतर जानते हैं, वे कभी भी निरंतर बदलते शरीर से भ्रमित नहीं होते।

कहा जाता है कि देहबद्ध चेतना के पांच स्तर होते हैं जिन्हे पंच-कोश कहा जाता है - अन्नमय (आहार द्वारा अपने अस्तित्व को तृप्त करना, जैसा कि बच्चों में देखा जाता है), प्राणमय (शरीर के पालन-पोषण की आवश्यकता की जागरूकता होना), मनोमय (मानसिक अभिज्ञता का स्तर), विज्ञानमय (उच्चतर ज्ञान के माध्यम से चेतना का विकास, इस समझ के साथ कि आप यह नश्वर शरीर नहीं बल्कि एक आत्मा हो), एवं आनन्दमय (स्वयं को कृष्ण का अवयवभूत अंश समझकर उनसे अपना नाता बढ़ाने की साधना करना)। इनमें से पहले तीन स्तर - अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय, सांसारिक भोग के जंजाल में फंसे सभी जीवों से जुडे है। विज्ञानमय और आनन्दमय स्तर उनसे जुडे हैं जिन्होने आत्म-साक्षात्कार (विज्ञान) एवं परिपूर्णता (आनन्द) प्राप्त कर ली है।

जो सुप्त एवं आलसी होते हैं, वे मात्र दैहिक पहचान में डूबे रहते हैं, वे कभी भी अपने संवेदी धारणा से परे की अलौकिक अनुभूति नहीं पा सकते। जिन्हें आत्मा का ज्ञान ही नहीं होता, वे गर्मी और ठंडक, सुख और दुःख, प्रसन्नता और पीड़ा, जन्म और मृत्यु जैसी जीवन के अनुभूतियों का वे अनुभव करते हैं। परन्तु जो लोग जीवन की दैहिक धारणा से विमुक्त होते हैं, वे चेतना की जगत में सजग होते हैं और इस संसार में प्रतिकूल या विरोधात्मक परिस्थितियों के बावजूद वे सदैव अपना संतुलित जीवन बनाए रखते हैं। वे सदैव शांत चित्त होते

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥२-१६॥

वह जो अस्थायी है उसका शाश्वत अस्तित्व नहीं होता। वह जो शाश्वत है उसका विनाश या विकार नहीं होता। सत्य-द्रष्टाओं ने इन दोनों की वैधानिक स्थितियों को साकार किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥२-१७॥

यह निश्चित रूप से जानो कि संपूर्ण शरीर में व्याप्त आत्मा अविनाशी होती है। इस अविनाशी आत्मा का कोई भी नाश नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२-१८॥

देहबद्ध आत्मा शाश्वत, अविनाशी, और अपरिमित होता है। केवल शरीर नश्वर होता है। इसलिए हे अर्जुन, युद्ध करो!

~ अनुवृत्ति ~

यहां श्री कृष्ण दोहरा रहे हैं कि चेतना (आत्मा) जड़ पदार्थ से श्रेष्ठ होती है। डार्विन के समय से ही नहीं बल्कि प्राचीन भारत के कुछ तत्त्वज्ञानीयों, जैसे की चार्वाक, से लेकर वर्तमान के समय तक, कुछ लोग सोचते हैं कि जीवन जड़ पदार्थ से उत्पन्न होता है। महा विस्फोटवाद (बिग बैंग थियोरी) और अन्य समकालीन वैज्ञानिक विचार भी इस मत का समर्थन करते हैं। परन्तु इस सोच की समस्या यह है कि ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो यह समझा सके, या इस बात का प्रदर्शन कर सके कि बेजान जड़ पदार्थ से जीवन के आसार कैसे विकसित हुए। जिस प्रकार डार्विन के अनुयायीगण विकासवाद को समझते हैं, उस विचार का काफ़ी हद तक जीवाश्म के प्रमाणों द्वारा खंडन हो चुका है क्योंकि उनमें कोई भी 'संक्रातिक प्रजातियां' पाई नहीं गई हैं जो आदिम प्रजातियों से लेकर विकसित प्रजातियों तक, जीव-जंतुओं के क्रमिक विकास को निश्चित रूप से व्यक्त कर सके। और तो और, कोई भी योग्य सैद्धांतिक रूपरेखा उपलब्ध नहीं है जो जड़ पदार्थ की उत्पत्ति को स्पष्ट कर सके।

ऐसे बहुत से सिद्धांत, नए और प्राचीन, जो जड़ पदार्थ को जीवन का स्रोत बताते हैं, वे मूलत: अनेक रूप से दोषपूर्ण हैं। दूसरी ओर, अति सूक्ष्म जीव-जंतुओं जैसे कि फ़्लाजेल्लम (Flagellum) से लेकर बृहतकाय प्राणियों तक, जैसे कि

हाथी और व्हेलों के पर्यावेक्षण से यह बात स्वत:सिद्ध है कि जीवन का स्त्रोत केवल जीवन ही हो सकता है। अतएव, जीवन के विषय पर वैदिक दृष्तिकोण यह है कि सभी जीव एक प्रज्ञ जीवन स्त्रोत से उत्पन्न होते हैं और वह स्त्रोत हैं श्री कृष्ण।

ब्रह्माण्ड और जीवन की सृष्टि के कारण को खोज निकालने की वैज्ञानिक दिलचस्पि अवश्य प्रशंसनीय है। परन्तु जब सारे उचित एवं इमानदार अन्वेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि जीवन/चेतना कोई जड़ पदार्थ का उपोत्पाद नहीं है, और चूंकि एक 'प्रज्ञ योजना' (Intelligent Design) का नक्शा हर जगह एवं सभी वस्तुओं में दिखाई देता है, तो समझदारी से यह मान लेना चाहिए कि महत्प्रज्ञा (परम चेतना) ही जड़ पदार्थ, जगत और सभी जीवित वस्तुओं का मूल कारण है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥२-१९॥

जो यह समझते हैं कि यह (आत्मा) हत्या कर सकता है, या इसकी हत्या की जा सकती है, दोनों ही वे अज्ञानी हैं - क्योंकि आत्मा ना तो हत्या कर सकता है न उसकी मृत्यु होती है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२-२०॥

आत्मा ना तो कभी जन्म लेता है न मरता है। उसका न कभी सृजन हुआ था न कभी सृजन होगा। वह अजात, नित्य, शाश्वत व कालातीत है - भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२-२१॥

हे पार्थ, जब आत्मा नित्य, अजात, व अविनाशी है तो कोई कैसे और किसका वध कर सकता है?

~ अनुवृत्ति ~

प्राय: यह माना जाता है कि ईश्वर ने, या किसी उच्च ज्ञान के स्त्रोत ने इस संसार में जीवन को रचा है, किंतु यहां श्री कृष्ण कहते हैं की आत्मा का वास्तव में कभी सृजन नहीं होता। कृष्ण के नित्य अंश के रूप में, परम चेतना के अंश के रूप में आत्मा नित्य है। परम सत्य की वैदिक धारणा में, कृष्ण निरंतर अपने शक्तियों के साथ सदैव अस्तित्व में रहते हैं। इस मापदण्ड के अनुसार चेतना का कभी सृजन नहीं होता; वह तो सदैव परम सत्य के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।

चेतना (आत्मा) के लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं - अजन्मा, नित्य, अविनाशी और कालातीत - वह वस्तु जिसका शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नाश नहीं होता। काल के प्रभाव को भौतिक शरीर के विकास, पोषण, उपोत्पाद, वृद्धावस्था, सिकुड़ना, और मृत्यु जैसी दृष्टिगत घटनाओं से समझा जा सकता है। किंतु चेतना (आत्मा) जड़ पदार्थ के प्रभाव से परे होता है, वह कालातीत भी होता है, अतएव कभी भी उसकी आयुर्वृद्धी नहीं होती, उसका जरण, सिकुड़ना, या उसकी कभी मृत्यु भी नहीं होता।

कुछ धार्मिक परंपराओं में कभी कभी सृष्टा (जगत के रचनाकार) की कल्पना, आकाश में बैठे एक बूढ़े-बाबा के रूप में की जाती है। स्वाभाविक तौर पर उन्हें वृद्ध माना जाता है क्योंकि आखिर बहुत समय पूर्व इस समस्त जगत का जन्म उन्हीं के द्वारा हुआ था, और इसलिए उम्र में वे सबसे बुजुर्ग हैं। किंतु यहां भी भगवद्गीता की अवधारणा विशेष रूप से भिन्न है। चेतना (आत्मा) सदैव नवीन रहता है और चेतना (आत्मा) का स्त्रोत - परम चैतन्य श्री कृष्ण, सदैव स्थिर-यौवन वाले होते हैं, कोइ वृद्धायुश वाले नहीं।

सांसारिक मामलों में संलग्न रहनेवाले और भगवद्गीता की प्रज्ञता को अनदेखा करनेवाले, जीवन की शारीरिक धारणा से उपर उठने और जड़ पदार्थ और चेतना (आत्मा) के बीच का अंतर पहचानने की साधना को सदैव कठिन समझेंगे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२-२२॥

जिस तरह हम पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्र धारण करते हैं उसी तरह आत्मा भी पुराने शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२-२३॥

आत्मा को कोई अस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता, पानी भिगो नहीं सकती, और हवा सुखा नहीं सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२-२४॥

आत्मा अविनाशी है, अदाह्य है (जलाया नहीं जा सकता), अघुलनशील है, और उसे मुरझाया नहीं जा सकता। वह नित्य है, सर्वव्यापी है, अपरिवर्ती है, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२-२५॥

कहते हैं कि वह अव्यक्त है, अचिन्त्य है, और अविकारी है। इस तरह यदि तुम आत्मा के लक्षणों को समझो तो तुम्हारा शोक जताना उचित नहीं।

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त श्लोकों में आत्मा के दिव्य स्वभाव को स्पष्ट रूप से बताया गया है। उसे कोई काट नहीं सकता, पानी या हवा उसे जला या स्पर्श नहीं कर सकता। दूसरी ओर एक भौतिक शरीर इन सबके अधीन होता है। चेतना (आत्मा) को नित्य कहा जाता है क्योंकि उसे नष्ट करना असंभव है। वह सर्वव्यापी है क्योंकि वह संपूर्ण शरीर को सजीव बनाता है और शारीरिक अंगो को संवेदनशीलता प्रदान करता है। वह अपरिवर्ती है क्योंकि वह वास्तव में जैसा है (शुद्ध चेतना) निरंतर वैसा ही रहता है, कुछ और नहीं बन जाता। वह अचल है क्योंकि वह सदैव अपने संवैधानिक स्थान पर स्थिर रहता है। वह सनातन है क्योंकि वह सबसे प्राचीन है। वह अव्यक्त है क्योंकि वह इन्द्रियों से अगोचर है। वह अचिन्त्य है क्योंकि वह मानसिक कल्पना-शक्ति से परे है, और वह अविकारी है क्योंकि वह परम सत्य का अनन्य अंश

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२-२६॥

हे महाबाहु, यदि तुम यह भी मान लो कि आत्मा नित्य जन्म और मृत्यु के अधीन है, तब भी शोक का कोई कारण नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२-२७॥

क्योंकि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है। जिसकी मृत्यु हो गई है, उसका जन्म निश्चित है। अतएव जिसे टाल नहीं सकते उस पर तुम्हें शोक करना उचित नहीं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२-२८॥

हे भारत, जन्म से पहले सभी जीव अव्यक्त होते हैं, जन्म और मृत्यु के बीच वे व्यक्त होते हैं, और मृत्यु के पश्चात फिर अव्यक्त हो जाते हैं। तो इसमे शोक का कारण कहां है?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२-२९॥

कुछ लोग आत्मा को आश्चर्यजनक मानते हैं, कुछ आश्चर्यजनक कहकर उसका वर्णन करते हैं, अन्य यह सुनते हैं कि वह आश्चर्यजनक है - और कुछ, सुनकर भी कुछ नहीं जानते।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२-३०॥

यह आत्मा जो हर एक जीव-जंतुओं के शरीर में वास करती है, वह नित्य और अवध्य होती है, हे भारत। इसलिए तुम्हें किसी पर भी शोक नहीं करना चाहिए।

~ अनुवृत्ति ~

आत्मा को समझना कठिन है, क्योंकि वह दिव्य एवं अलौकिक होती है, और उसे किसी भी भौतिक इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता, इस संसार के सबसे

शक्तिशाली माइक्रोस्कोप द्वारा भी नहीं। उसका आकार आणविक होता है और केवल परिप्रज्ञता से उसे परखा जा सकता है। प्रत्येक आणविक आत्मा पांच तरह के सूक्ष्म प्राण-वायु (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) के मध्य स्थित होती है। वह हृदय में स्थित होता है और पूरे शरीर में अपना प्रभाव रखता है। आत्मा की सूक्ष्मता और शरीर में उसके स्थान का कुछ अनुमान देने के लिए, श्वेताश्वतरोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में हमें यह जानकारी दी गई है -

बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

एक बाल के उपरी सतह को जब सौ भागों में बाँटा जाए, और इन प्रत्येक भागों को फिर सौ बार बाँटा जाए, तब प्रत्येक परिणामी भाग का माप एक आत्मा के माप के बराबर होगा। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.९)

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

आत्मा आकार में आणविक होता है और केवल विशुद्ध बुद्धिशक्ति से समझा जा सकता है। यह आणविक आत्मा पांच तरह की वायुओं में तैर रही होती है, हृदय-स्थित होती है, और देहधारी जीवों के शरीर में वह अपना प्रभाव सर्वत्र फैलाती है। जब इन पांच प्रकार की भौतिक वायुओं के दूषण की मुक्ति से आत्मा की शुद्धी होती है, तब उसका अलौकिक प्रभाव प्रकट होता है। (मुण्डकोपनिषद् ३.१.९)

देहधारी जीवों के लिए जन्म और मृत्यु का सांसारिक-चक्र एक प्राकृतिक घटना समझा जाता है। हालाँकि इस विचार को भाग्यवादी धारणा भी समझा जाता है, जन्म और मृत्यु दोनों ही देहधारी जीव के लिए अवांछनीय अनुभूतियां हैं। जीवन के अनुभव के पश्चात कोई भी स्वस्थ-चित्त व्यक्ति मरना नहीं चाहेगा - सभी जितना लंबा हो सके उतना जीना चाहते हैं। इस उद्देश्य से, आज-कल करामाती औषधियों के उत्पादक हमें चिरायु बनाने का भरोसा देते हैं, हालाँकि वर्तमान में ऐसी कोई भी जीवनप्रद औषधी उपलब्ध नहीं है। सभी को मरना तो है किंतु मरने से पहले, ये करामाती औषधियां और डाक्टरों की फीस हमारी पारिवारिक भाग्य-संपत्ति का दिवाला अवश्य निकाल देंगी। कुछ भी हो, मृत्यु अवश्य एक अस्वाभाविक अनुभूति है। यह तथ्य कि सभी चिरकाल जीने की

आशा रखते हैं, यह इस बात का संकेत देती है कि जन्म और मृत्यु के परे, जीवन की एक विशुद्ध स्थिति भी मौजूद है। अवश्य वह मौजूद है, और इस अध्याय के दौरान श्री कृष्ण इस विषय को और विस्तृत रूप से बताएंगे।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धार्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥२-३१॥

और तो और, तुम्हारे स्वधर्म के अनुसार, तुम्हें झिझकना नहीं चाहिए, क्योंकि एक क्षत्रिय के लिए धर्म की रक्षा हेतु युद्ध करने से बेहतर अन्य कोई कर्म नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥२-३२॥

हे पार्थ, केवल सबसे भाग्यशाली क्षत्रियों को ही ऐसे युद्ध में भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त होता है, जो स्वत: तुम्हारे सामने स्वर्ग-द्वार बनकर आया है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥२-३३॥

किंतु यदि तुम इस धर्मयुद्ध में भाग नहीं लेते हो, तो तुम्हारा धर्म भ्रष्ट हो जाएगा, यश तुम्हें त्याग देगा, और तुम पाप-ग्रस्त हो जाओगे।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते ॥२-३४॥

आने वाले हर समय में लोग तुम्हारी अकीर्ति को दोहराते रहेंगे, और जो महान होते हैं, उनके लिए अपयश मृत्यु से भी बदतर होता है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥२-३५॥

महारथी योद्धा यह सोचेंगे कि भय के कारण तुम युद्ध से भाग गए। तुम्हारा अत्यंत आदर करनेवाले तुम्हे अपनी नजरो से गिरा देंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥२-३६॥

तुम्हारे शत्रु अपमानजनक वचनों से तुम्हारी वीरता का तिरस्कार करेंगे। इससे बढ़कर दुखदाई स्थिति और क्या हो सकती है?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥२-३७॥

हे कौन्तेय, यदि तुम मारे जाते हो तो तुम्हे स्वर्ग प्राप्त होगा, और यदि तुम विजयी होते हो तो तुम इस पृथ्वी पर राज करोगे। अतः, अपनी सफलता पर विश्वास रखो - उठो और युद्ध करो!

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२-३८॥

सुख हो या दु:ख, लाभ हो या नुकसान, विजय हो या पराजय, सदैव धीरज रखो - युद्ध करो, और इस तरह तुम पाप से बच जाओगे।

~ अनुवृत्ति ~

सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अर्जुन एक क्षत्रिय थे और वे शूरवीरों के वर्ग के सदस्य थे। दरसल, धर्म को कायम रखना एवं आक्रांताओं से राज्य की सुरक्षा करना अर्जुन के विधिपूर्ण कर्तव्य थे। विधि और सामाजिक नियमों के अनुसार, अर्जुन और उनके भाई, शासन के न्यायपूर्ण वारिस थे, फिर भी उनके चाचा धृतराष्ट्र ने सिंहासन को हड़प लिया था। अर्जुन, उनकी पत्नी द्रौपदी, उनकी माता कुन्ती और उनके भाई युधिष्ठिर, भीम, सहदेव, और नकुल, सभी को कपट से राज्य से निर्वासित कर दिया गया था।

श्री कृष्ण अर्जुन का स्वभाव जानते हैं, इसलिए वे अर्जुन की क्षत्रियता को उकसा रहे हैं ताकि वे उठकर युद्ध करें। कृष्ण अर्जुन को स्मरण दिलाते हैं कि यदि वे अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं तो उनके भाग्य में केवल अपमान उनकी प्रतीक्षा करेगी। उनके शत्रु बुरा-भला कहकर उन्हें कायर घोषित कर देंगे। कर्तव्यों की इस तरह अवहेलना करना यश की ओर नहीं बल्कि अपयश की ओर ले जाती है।

परिस्थिति कैसी भी हो, युद्ध की ललकार सुनकर एक क्षत्रिय को कभी भी अपने कर्तव्यों का परित्याग नहीं करना चाहिए। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि वे

युद्ध में राज्य की रक्षा करते हुए अपने प्राण उत्सर्ग करता है तो ऐसी वीरता का कार्य उन्हें अगले जन्म में एक ऊँचे पद् पर स्थापित करेगी। अथवा, कृष्ण कहते हैं, यदि वे युद्ध में विजयी होते हैं तो उन्हें अपना राज्य पुन: प्राप्त होगा और वे यहां, पृथ्वी पर इसका भोग करेंगे। हर हालत में, कृष्ण दृढतापूर्वक अर्जुन को अपने कर्तव्य का परित्याग न करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुध्द्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥२-३९॥

हे अर्जुन, हे पार्थ, मैंने तुम्हें आत्मा (व्यक्तिगत चेतना) का ज्ञान प्रदान किया है। अब यह सुनो कि इस पर अमल कैसे करें, जिसके सहारे तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो पाओगे।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२-४०॥

इस धर्म का अमल करने में ना कोई नुकसान है और न ही इसके प्रतिफल में कोई कमी है। इस धर्म के अन्तर्गत थोड़ा सा परिश्रम भी एक जीव को महाभय से बचाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२-४१॥

हे कुरु वंशज, आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता केंद्रित व अनन्य होती है, जब कि प्रापंचिक सुख की कामना करनेवालों की बुद्धि बहुत सी शाखाओं में विभाजित होती है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥२-४२॥

हे पार्थ, जो अल्पबुद्धि होते हैं वे वेदों के गलत अर्थ निरूपण से यह दावा करते हैं कि सृष्टि का कोई ईश्वरीय सिद्धांत ही नहीं होता। अत: वे केवल उन वाक्यों का गुणगान करते हैं जो उनके इन्द्रियों को सुखदायक लगे।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥२-४३॥

चूंकि उनके हृदय स्वार्थि मनोकामनाओं से भरे होते हैं, और चूंकि स्वर्ग की प्राप्ति ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है, वे ऊँचा जन्म, धन और सत्ता प्रदान करनेवाले कर्मकाण्ड के अनेक अनुष्ठानों की संस्तुति करते हैं जो उन्हें भोग व ऐश्वर्य की ओर ले चलते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥२-४४॥

इस तरह के इरादों को लेकर, इन्द्रिय तृप्ति और सांसारिक भोग का चिंतन करनेवाले ये लोग, कभी भी परम सत्य की धारणा के लिए आवश्यक मानसिक संकल्प जुटा नहीं पाते।

~ अनुवृत्ति ~

मनुष्य जाति में अपने शरीर को त्याग कर पशु या अन्य निम्न जातियों में जन्म पाने के भय को ही उपर्युक्त श्लोक में कथित सबसे बड़ा भय (महाभय) कहा गया है। कुछ लोग समझते हैं कि मनुष्य जाति की एक विशेष प्रकार की चेतना या आत्मा होती है, और पशु आदि जातियों की अन्य प्रकार की आत्मा होती है। परन्तु वास्तव में मनुष्य जाति और पशु जाति की आत्माओं में कोई अंतर नहीं होता। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार कई निम्न प्रजातियों में देहांतरण कर, अंत में मनुष्य जाति को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य जीवन हमें आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिक विद्या एवं आध्यात्मिक जागृति की साधना करने का अवसर प्रदान करती है। सदैव ऐसा नहीं होता कि आत्म-साक्षात्कार की साधना करनेवाले एक ही बार में या एक ही जीवनकाल में सफलता प्राप्त कर लें। परन्तु श्री कृष्ण हमें आश्वासन देते हैं कि आत्म-साक्षात्कार के पथ पर थोड़ा सा परिश्रम भी हमें सबसे घोर भय, यानि कि निम्न प्रजातियों मे जन्म लेने के भय से बचाता है।

आत्म-साक्षात्कार की परिपूर्णता को योग प्रणाली में समाधि, अर्थात हमारी चेतना की पूर्ण रूप से परम सत्य में तन्मयता को कहते हैं। एक भक्ति-योग का अनुयायी यदि दृढ निश्चय के साथ श्री कृष्ण के उपदेशों का अनुसरण करता है तो उसे ऐसी आत्म-साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति केवल मनुष्य जीवन की प्राप्ती के महान वरदान से ही संभव हो सकती है।

परन्तु, यदि कोई मनुष्य, आत्म-साक्षात्कार के अवसर की उपेक्षा करता है, तो वह अवश्य पशुजाति या पशुओं से भी निचली प्रजातियों में जन्म का जोखिम उठाता है। प्राय: इस बात पर चर्चा तो होती है कि कभी कभी कुत्ते और बिल्लियों के जीवन भी कई मनुष्यों के जीवन से अधिक आरामदेह होते हैं, और यह बात खासकर पश्चिमी देशों के कुत्ते और बिल्लियों के मामले में तो बिलकुल सही है। किंतु ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया जाता है कि मनुष्य जीवन को खोकर हम किसी धनवान अमरीकी परिवार में अच्छे खाते-पीते पालतु कुत्ते या बिल्ली बन जाएंगे। हम ऐसे पशु भी बन सकते हैं जिसे जंगली जानवर ज़िन्दा चबा जाएं या समुंदर के परभक्षि चीरकर निगल जाएं। निस्संदेह, कुछ कहे बिना ही हम यह मान सकते हैं कि इस तरह का जीवन और मृत्य अत्यंत ही दु:खदायक होता है।

अत: पशु-जीवन में पाए जानेवाले अनावश्यक पीड़ाओं से बचने के लिए एक मनुष्य को भगवद्गीता में निरूपित आत्म-साक्षात्कार के पथ पर दृढ निश्चय और लगन के साथ आगे बढ़ना चाहिए।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥२-४५॥

वेद त्रिगुणों पर आधारित विषयों की चर्चा करते हैं। हे अर्जुन, विशुद्ध आध्यात्मिक चेतना में स्थित रहकर, लाभ और रख-रखाव के उद्यम से मुक्त होकर, द्वन्द्वमुक्त बनो। इस तरह तुम इन त्रिगुणों से उपर उठ पाओगे।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥२-४६॥

एक विशाल सरोवर उन सभी उद्देश्यों की पूर्ती कर सकता है जो एक छोटा तालाब करता है। उसी तरह, एक परम सत्य का जानकार, वेदों में निहित सभी उद्देश्यों की पूर्ती कर सकता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥२-४७॥

तुम्हारे कर्मों के करने पर तुम्हारा अधिकार है, किंतु उन कर्मों के फलों पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। अपने कर्मों के फलों से कभी प्रेरित न हो, और न अपने निर्धारित कर्मों को न करने की सहजप्रवृत्ति से लगाव रखो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२-४८॥

हे धनंजय, योग में सुदृढ़ रहो, मोह-रहित होकर अपने कर्मों को करो, एवं सफलता हो या विफलता, दोनों में धीरज रखो। इस तरह के संतुलन को ही योग कहा जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥२-४९॥

हे धनंजय, फलाकांक्षी कर्म (कार्य), बुद्धिमत्ता के योग से नीचा होता है। अत: बुद्धिमत्ता का आश्रय लो। फल की आशा में कर्म करनेवाले कृपण होते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥२-५०॥

बुद्धिमान, पुण्य एवं पाप कर्म, दोनों से परहेज रखते हैं। अत: योग में नियुक्त रहो क्योंकि योग ही सबसे उत्तम कार्य है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥२-५१॥

बुद्धिमान अपने कर्म के फलों का त्याग कर, भौतिक जन्म और मृत्यु के बंधन से विमुक्त हो जाते हैं। इस तरह वे वह पद प्राप्त कर लेते हैं जो समस्त दु:खों के अतीत है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२-५२॥

एक बार यदि तुम्हारी बुद्धी, माया के इस घोर जंगल को पार कर जाए, तब सभी सुने व अनसुने विषयों से तुम विरक्त हो जाओगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२-५३॥

जब तुम्हारा मन वेदों की मिथ्या प्रस्तुतिकरण के प्रभाव से मुक्त हो जाएगा, तब तुम योग में सिद्धी प्राप्त कर सकोगे।

~ अनुवृत्ति ~

परात्परता में स्थित होने का अर्थ है त्रिगुणों से, यानि की तमोगुण, रजोगुण, और सत्त्वगुण, से मुक्त होना। त्रिगुणों से उपर उठने की साधना को ही योग कहा जाता है। भौतिक जगत में सभी त्रिगुणों के अधीन होते हैं, और केवल एक सच्चा योगी ही इनसे उपर उठ पाता है।

हमारे कार्यों को तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है - वेद द्वारा निर्धारित कार्य (कर्म), निषिद्ध कार्य (विकम), और दिव्य कार्य (अकम)। कर्म का अर्थ है वे कार्य जिन्हें करने से पुण्य प्राप्त होता है और कभी कभी वे कर्ता को उंचे लोकों में पदोन्नती दिलाते हैं या एक उच्च वैभवपूर्ण जीवन प्रदान करते हैं। जो वेदों के व्यादेशों के विरुद्ध किए जाते हैं, वे विकर्म हैं, और जो कर्ता और अन्य जीव-जन्तुओं के लिए पीड़ा का कारण बनते हैं। जिन कर्मों की न अच्छी न बुरी प्रतिक्रिया होती है, उन्हें अकर्म कहा जाता हैं।

एक बुद्धिमान व्यक्ति जो योग के विज्ञान को समझता है वह सदैव अकर्म करने का प्रयास करता है। ऐसे योगियों को भक्ति-योगी कहा जाता है जो आसानी से दिव्य अलौकिक भाव में स्वयं को स्थापित कर सकते हैं। अन्य योग प्रणालियां जैसे कि अष्टांग-योग, राज-योग, कुण्डलिनी-योग, हठ-योग और क्रिया-योग अभ्यर्थी को अलौकिक स्थान पर तो पहुंचा सकते हैं, किंतु इनके पथ, विशेषकर इस आधुनिक युग के लोगों के लिए, बहुत कठिन होते हैं।

श्री कृष्ण योगेश्वर हैं - योग के सर्वश्रेष्ठ गुरु, और हालांकि भगवद्गीता में अन्य योग प्रणालियों पर चर्चा तो की गई है, कृष्ण अन्त में भक्ति-योग की ही संस्तुती करते हैं। भक्ति-योगी सदैव योगेश्वर श्री कृष्ण की तृप्ति हेतु भक्ति कार्य में लगे रहते हैं। इस तरह, एक भक्ति योगी सदैव अपने इन्द्रियों को पूरी तरह से अपने नियंत्रण में रखता है। इन्द्रियों को संपूर्ण वश में किए बिना कोई भी ध्यान या आध्यात्मिक साधना में ठीक से संलग्न नहीं रह सकता। अतएव, एक भक्ति-योगी ही सर्वोच्च योगी है क्योंकि वह सर्वोच्च योग पद्धति में संलग्न है।

योग के आठ गूढ सिद्धियां हैं, जिन्हें अष्ट-सिद्धी कहते हैं। ये सिद्धियां हैं - अनिमा-सिद्धी (आकार में बहुत छोटा बन जाना), लघिमा-सिद्धी (हवा से भी हल्का बन जाना), प्राप्ति-सिद्धी (कहीं से भी किसी भी वस्तु को झपट लेना, जैसे कि न्यू योर्क से अपने हाथों को बढ़ाकर भारत में उगते हुए पेढ़ पर से आम तोड़ना), महिमा-सिद्धी (अत्यंत वज़नदार हो जाना), ईशित्व-सिद्धी (अनोखे वस्तुओं की रचना करना या अपनी इच्छानुसार किसी भी वस्तु का नाश करना), वशित्व-सिद्धी (भौतिक पदार्थों का नियंत्रण करना), प्राकाम्य-सिद्धी (अपनी सभी कामनाओं को पूरी करने की क्षमता), और कामावशायिता-सिद्धी (मनचाहा रूप धारण करने की क्षमता)। योगेश्वर श्री कृष्ण में ये सभी अष्ट-सिद्धियां अपनी संपूर्णता में पाई जाती हैं।

कई बार योगी यह दावा करते हैं कि उन्होंने एक या अधिक सिद्धियां प्राप्त कर ली है। ऐसी बातें प्राचीन समय में अपेक्षाकृत आम हुआ करती थीं। परन्तु आधुनिक समय में इस तरह का दावा प्राय: छलपूर्ण या मात्र अनुयायी इकट्ठा करने के लिए रचा एक ढ़ोंग है। योग की लोकप्रियता में बढ़ोतरी के साथ-साथ अष्ट-सिद्धी का झूठा दावा करना भी एक लाभदायक व्यापार बन गया है।

एक योगी का उच्चतम ध्येय अष्ट-सिद्धियों की प्राप्ती नहीं बल्कि भक्ति-योग में समाधी की स्थिती प्राप्त करना होता है, क्योंकि ऐसी उपलब्धी उन्हें जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाती है।

अर्जुन उवाच ।
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥२-५४॥

अर्जुन ने कहा, हे केशव, दिव्य ज्ञान में उत्कृष्टता से स्थित और शुद्ध आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण रूप से लीन व्यक्ति के क्या लक्षण होते हैं? उनकी बोली कैसी होती है? उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना कैसा होता है?

श्रीभगवानुवाच ।
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२-५५॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले, हे पार्थ, जब एक जीव अपने मन में प्रवेश करनेवाले सभी कामनाओं का परित्याग कर भीतर से आत्म-संतुष्ट बनता है, तब यह कहा जा सकता है कि वह दिव्य-ज्ञान में स्थित है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥२-५६॥

वह व्यक्ति जिसका मन दुःख में भी शांत रहे, जिसे सुख की अभिलाषा न हो, जो सांसारिक बंधनों से, भय से और क्रोध से मुक्त हो, वह स्थिर-बुद्धि का मुनी कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-१७॥

जो जगत के सभी वस्तुओं से असंलग्न रहे और जो शुभ और अशुभ की प्राप्ति पर हर्षित या क्रोधित न हो, उसकी प्रज्ञा योग में प्रतिष्ठित कहलाती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-५८॥

जो अपने इन्द्रियों को उसी तरह विषय-वस्तुओं से निर्लिप्त कर सके, जैसे कि एक कछुआ अपने अंगो को अंदर खींचता है, उस व्यक्ति की प्रज्ञा योग में प्रतिष्ठित कहलाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥२-५९॥

हालांकि एक देहबद्ध जीव विषय वस्तुओं का त्याग तो कर लेता है, फिर भी उनके भोग का स्वाद शेष रह जाता है। परन्तु, परम सत्य के दर्शन से इस दोष का निवारण भी हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥-६०॥

फिर भी, हे कुन्तिपुत्र, एक विवेकी व्यक्ति के मन को भी अशांत इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-६१॥

इन्द्रियों को निग्रह में रखकर, एक संयमी व्यक्ति को मुझ पर अपना ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार वह दिव्य ज्ञान में दृढ स्थित हो जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

जैसा कि पहले बताया गया है, बहुत सी विभिन्न योग प्रणालियां हैं। श्री कृष्ण ने स्पष्ट किया है कि अपने इन्द्रियों को इन्द्रीय-तृप्ति के लिए, शब्द, स्पर्श, रुची, सुगंध, और दृष्टि के विषय वस्तुओं से निर्लिप्त करने से, और अपने मन को उन (श्री कृष्ण) पर केन्द्रित करने से, व्यक्ति दिव्य ज्ञान व समाधि में दृढ स्थित हो जाता है।

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए, बिना किसी सकारात्मक कर्म के, केवल इन्द्रियों को नियंत्रित करने से कोई लाभ नहीं होता। अनेक योगियों ने इन्द्रियों को पूर्ण रूप से निष्क्रिय बनाने का प्रयास किया है, किंतु विषय वस्तुओं के स्वाद या उन पर मोह के रह जाने से बहुतों का इस प्रयास में पतन हुआ है। जब की कृष्ण के उपदेशों का अनुसरण करनेवाले भक्ति-योगी की इन्द्रियां नियंत्रित रहती हैं, क्योंकि वे चौबीसो घंटे कृष्ण की सेवा में कार्यरत रहते हैं। इसके अलावा, इन्द्रिय तृप्ति की रुची क्रमश: शुष्क होकर लुप्त हो जाती है और एक भक्ति योगी आध्यात्मिक पथ पर निर्बाध प्रगति करने लगता है।

जो अपने इन्द्रियों का निग्रह न कर सके वह अपने मन को एकाग्र नहीं कर सकता है। और तो और, सांसारिक क्रियाकलाप से कभी भी इन्द्रीय संतुष्ट नहीं होती। अल्प समय के लिए वे अवश्य तृप्त रहते हैं, किंतु तत्पश्चात पुन: वे और अधिक लोलुपता से जाग उठते हैं। शारीरिक इन्द्रियों के दास कभी भी स्वयं के स्वामी नहीं बन सकते।

शुद्ध आध्यात्मिक चेतना या समाधी में पूर्ण रूप से निमग्न रहने का अर्थ है परम पुरुष श्री कृष्ण के प्रति निरंतर जागरूक रहना। मन एवं इन्द्रियों के कृष्ण में निमग्नता को ही कृष्ण भावनामृत कहते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२-६२॥

विषय वस्तुओं पर ध्यान करने से व्यक्ति उनसे बंध जाता है। बंधन से कामना उत्पन्न होती हैं, और कामना से क्रोध प्रकट होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२-६३॥

क्रोध से विमोह उत्पन्न होता है। विमोह से स्मृति-भ्रम होता है। स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि के नाश से व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥२-६४॥

परन्तु, जो व्यक्ति विषय वस्तुओं के मध्य में होते हुए भी अपने मन एवं इन्द्रियों को वश में रख सके, और आसक्ती एवं मोह से मुक्त रह सके, वह दिव्य अनुग्रह प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥२-६५॥

दिव्य अनुग्रह की प्राप्ति से सारे दुःख दूर हो जाते हैं। जो व्यक्ति प्रशांत मन पा लेता है, उसमें निस्संदेह दिव्य प्रज्ञता प्रकट हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥२-६६॥

जिसमें आत्म-संयम नहीं होता वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। बिना ज्ञान के समाधि प्राप्त नहीं होती। बिना समाधि के शांति प्राप्त नहीं होती, और बिना शांति के कैसे कोई प्रसन्न हो सकता है?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥२-६७॥

जिस किसी भी इन्द्रिय से ग्रस्त अस्थिर मन हो जाए, वह इन्द्रिय बुद्धि को उसी तरह हर ले जाती है जैसे कि समन्दर में एक प्रचंड वायु एक नाव को बहा ले जाता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-६८॥

इसलिए, हे महाबाहु अर्जुन, जिसके इन्द्रिय विषय वस्तुओं से पूर्ण निर्लिप्त होते हैं, वह दिव्य प्रज्ञता में दृढ़ स्थित होता है।

~ अनुवृत्ति ~

दुर्भाग्यवश, बहुत से ऐसे धोकेबाज योगी हैं जो धन और शिष्य इकट्ठा करने के लिए तथा-कथित 'आशीर्वाद' देते हैं, यह कहकर कि हिंसा-रहित आहार, यौन-रोकथाम, या नशा परिवर्जन आदि जैसे किसी भी इन्द्रिय-निग्रह की साधना की कोई आवश्यकता ही नहीं। ऐसे धोकेबाज अपने अनुयायिओं को धोका देकर उन्हें यह सोचने पर भटकाते हैं कि वे स्वयं भगवान् हैं और यह कि वे इन्द्रिय-वांछित किसी भी वस्तु का भोग कर सकते हैं।

परन्तु यहां पर एक निष्पक्ष चेतावनी दी गई है। ऐसी अनियंत्रित इन्द्रिय सक्रियता दिव्य अनुग्रह या दिव्य ज्ञान नहीं प्रदान करता, बल्कि यह व्यक्ति को पहले बंधन, फिर वर्धित काम वासना, फिर क्रोध, फिर विमोह, स्मृति-भ्रम, बुद्धि-नाश और अंत में सर्वनाश की ओर ले जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥२-६९॥

जो अन्य लोगों के लिए रात है, वह एक आत्म-संयमित संत के लिए दिवस होता है, और जो अन्य लोगों के लिए दिवस है, वह अन्तर्दर्शनात्मक संत के लिए रात होती है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वेस शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥२-७०॥

ऐसा संत जो काम के निरंतर वेग का सामना करने में अचल रहे, औउन्हें तृप्त करने का प्रयास न करे, वह शांति प्राप्त करता है। नदियों के प्रवेश करने पर भी जिस तरह समंदर शांत रहता है, वह संत भी उसी तरह अप्रभावित रहता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥२-७१॥

जो व्यक्ति सारे भोग-कामनाओं का परित्याग करे, और जो स्वत्वात्मकता की भावना एवं झूठे अहंकार से मुक्त रहे, केवल वही शांति प्राप्त कर सकता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥२-७२॥

हे पार्थ, परम सत्य की साक्षात्कार के पश्चात व्यक्ति कभी भ्रमित नहीं होता। यदि कोई मृत्यु के समय ऐसी दशा में स्थित रहे, उसे ब्रह्म-निर्वाण या शुद्ध चेतना का निवास प्राप्त होता है, और उसके सारे कष्ट समाप्त हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

भगवान् श्री कृष्ण के आदेशों का अनुसरण करके जो परम सिद्धी प्राप्त होती है, यहां उसका वर्णन किया गया है। जो अपना जीवन श्री कृष्ण के उपदेशानुसार व्यतीत करता है उसे मृत्यु के समय ब्रह्म-निर्वाण, वैकुण्ठ लोक प्राप्त होता है, जहां वह सारे कष्टों से मुक्त हो जाता है।

तत्त्वदर्षियों के ज्ञान के अनुसार, परम सत्य की साक्षात्कार के तीन स्तर होते हैं - ब्रह्मन, परमात्मा एवं भगवान्।

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

परम सत्य के विज्ञाता इस अद्वय द्रव्य को ब्रह्मन, परमात्मा, या भगवान् के रूप में समझते हैं। (श्रीमद्भागवतम् १.२.११)

ब्रह्मन का अर्थ है परम सत्य की निराकार ज्योति या प्रभा। 'ब्रह्मन' शब्द् वैदिक ग्रन्थों में सभी जगह पाया जाता है, और भक्ति-योग के विद्वानों के अनुसार, यह शब्द् अंततः विष्णु या कृष्ण को ही दर्शाता है।

बौद्ध दर्शनशास्त्री निर्वाण को सांसारिक जीवन का अंत और शून्यता में प्रवेश मानते हैं, किंतु भगवद्-गीता का ज्ञान बिलकुल भिन्न है। वैदिक शिक्षा में कहीं भी शून्यता की अवधारणा नहीं है। सब कुछ परम सत्य की शक्तियां हैं और इसके बाहर कोई अस्तित्व या अनस्तित्व का समाधेय नहीं है।

भक्ति-योग के मुख्य संतो में से विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ब्रह्म-निर्वाण को मुक्ति कहते हैं। उनके शिष्य बलदेव विद्याभूषण ब्रह्म-निर्वाण को परमात्मा समझते हैं, जो मुक्ति के साक्षात रूप, स्वयं विष्णु हैं। रामानुजाचार्य ब्रह्मन को आत्मा, तथा निर्वाण को परमानन्द समझते हैं। मध्वाचार्य ब्रह्म-निर्वाण को भौतिक रूप रहित विष्णु/कृष्ण कहते हैं। किसी भी तरह से, कृष्ण-भक्त कभी भी निराकार ब्रह्मन में या शून्यता में मुक्ति को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे केवल कृष्ण की सेवा चाहते हैं, और वैसे भी वे पहले से ही विमुक्त होते हैं।

सभी जीवों के हृदय में प्रतिष्ठित परम सत्य की अनुभूति को ही परमात्मा कहते हैं - जगत के पालनकर्ता जो प्रत्येक भौतिक पदार्थ के कण के भीतर व उनके मध्य में स्थित होते हैं।

परम सत्य के व्यक्तित्व-सहित स्वरूप की अनुभूति को ही भगवान् कहते हैं, और यही आत्मानुभूति की चरम सीमा मानी जाती है, क्योंकि इस दशा में हम संपूर्णता में परम सत्य को श्री कृष्ण के साकार रूप में करते हैं, जो स्वयं सभी शक्तियों के मूलस्रोत हैं। कृष्ण के निवास को वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन कहते हैं।

इसके अतिरिक्त, श्लोक ७१ उस मिथ्या-अहम को सूचित करता है जो त्रिगुणो से प्रभावित होकर चेतना से जुड़ जाता है। मिथ्या-अहम, वास्तविक-अहम के अस्तित्व को प्रमाणित करता है - वह वास्तविक-अहम जो एक जीव की निर्मल प्रज्ञा होती है। स्वयं को केवल एक स्थूल शरीर समझ लेना या स्वयं को इन्द्रियों का भोगी मान लेना, इसी मिथ्या-अहम का कारण व प्रभाव है। मिथ्या-अहम हमें ज्ञानोदय की ओर नहीं, बल्की जन्म और मृत्यु की पुनरावर्ती सांसारिक चक्र की ओर ले जाता है। मिथ्या-अहम अंधकार की परछाई जैसा होता है जो निर्मल ज्ञान को ढक देता है। शुद्ध-अहम और शुद्ध ज्ञान अभेद हैं। स्वयं को परम सत्य का अवयवभूत अंश और कृष्ण का नित्य सेवक जान लेना ही वास्तविक-अहम कहलाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए सांख्य योग नामक द्वितीय अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ३

कर्म योग

अर्जुन उवाच।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३-१॥

अर्जुन ने कहा - हे जनार्दन, हे केशव, यदि आपके अभिप्राय में ज्ञानयोग कर्म से बेहतर है, तो फिर ऐसे हिंसात्मक कार्य में आप मुझे क्यों संलग्न कर रहे हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥३-२॥

आपके वचन मुझे परस्पर-विरोधी लग रहे हैं और अब मेरा मन भ्रमित हो गया है। इसलिए, कृपया मुझे यह बताएं कि कौनसा पथ मेरे लिए उत्तम है।

श्रीभगवानुवाच ।
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३-३॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - हे दोष-रहित, पहले मैंने इस लोक में पाए जाने वाले दो प्रकार के मार्गों को बताया है - अनुभवाश्रित दार्शनिकों के लिए ज्ञान का मार्ग, और कर्म से आसक्त लोगों के लिए कर्म का मार्ग।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३-४॥

केवल कर्म से निवृत्त होकर कोई भी निष्कर्म की दिव्य स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता, और केवल परित्याग के माध्यम से सिद्धी प्राप्त नहीं होती।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३-५॥

कोई एक पल के लिए भी कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता। वास्तव में त्रिगुणों के प्रभाव से सभी जीव कर्म करने के लिए विवश हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

भगवद्गीता का उद्देश्य जीवन की शारीरिक धारणा से हमें उपर उठाकर चेतना (आत्मा) के स्तर पर पहुंचाना है, या दूसरे शब्दों में हमें यह ज्ञात कराना कि आत्मा का स्वरूप क्या है। श्री कृष्ण ने पहले ही दूसरे अध्याय में इसका वर्णन किया है, किंतु ऐसा लगता है कि अर्जुन को कृष्ण की व्याख्या में असंगति दिखाई दे रही है। इसलिए अर्जुन ने कृष्ण से ज्ञानयोग और कर्मयोग को अधिक विस्तार में समझाने का अनुरोध किया। नए लोगों में यह उलझन सामान्य है - क्या कोई सांसारिक प्रसंगों से अछूत होकर एक ज्ञानी बन जाए, या क्या अपने निर्धारित कर्तव्यों का निर्वाह करे?

अन्तत: कृष्ण के उपदेशों से हमें यह समझना चाहिए कि ज्ञान और उचित कर्म दोनों ही परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। वे कर्म जिन्हें कभी कभी धार्मिक माना जाता है, बिना तात्त्विकी आधार के वे केवल भावनात्मक हैं, और साधना विधि रहित तत्त्वज्ञान केवल एक परिकल्पना है। ठोस तात्त्विकी आधार रहित धार्मिक विधियाँ प्राय: धर्मांधता की ओर ले चलती हैं जिसका परिणाम विनाश और मृत्यु है। हमारी आधुनिक दुनिया इस समस्या को भली भांति जानती है।

जो मानव-जीवन की परिपूर्णता प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए तत्त्वज्ञान और साधना की परस्पर-निर्भरता अपरिहार्य है। कोई भी कार्य उचित ज्ञान सहित ही करना चाहिए, केवल तब हम उचित परिणाम प्राप्त कर सकेंगे और सच्चे योगी बन सकेंगे।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥३-६॥

जो बाहर से इन्द्रियों का निग्रह करे किंतु मानसिक स्तर पर विषय वस्तुओं का चिंतन करे, वह पाखंडी कहलाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥३-७॥

जब की, हे अर्जुन, जो व्यक्ति अपने मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में रखे और उन्हें बिना किसी लगाव के कर्मयोग में नियुक्त करे, वह श्रेष्ठतर है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥३-८॥

तुम्हे अपने निर्धारित कर्मों को करना चाहिए, क्योंकि कर्म करना, निष्क्रिय रहने से बेहतर है। कर्म किए बिना तुम अपना अस्तित्व भी कायम नहीं रख सकते।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥३-९॥

सारे कर्मों को यज्ञ द्वारा विष्णु पर समर्पित करना चाहिए। अन्यथा सभी कर्म हमें इस भौतिक जगत से बांधते हैं। हे कुन्तीपुत्र, केवल ईश्वर के लिए कर्म करो और इस प्रकार तुम सारे बंधनों से मुक्त हो जाओ।

~ अनुवृत्ति ~

वेदों के निर्देशानुसार सारे कर्म विष्णु या श्री कृष्ण को समर्पित करते हुए किए जाने चाहिए - यज्ञो वै विष्णुः। इस संसार में कोई भी देहधारी जीव एक पल के लिए भी कर्म को छोड़कर नहीं रह सकता क्योंकि यहां त्रिगुणों के प्रभाव से सभी कर्म करने के लिए मजबूर हैं। कहा जाता है कि आत्मा का वास्तविक स्वभाव परम पुरुष श्री कृष्ण की सेवाकार्य में संलग्न रहना है। इसलिए सभी कार्यों को विष्णु या कृष्ण से जोड़ा जाना चाहिए और केवल उनकी तृप्ति के लिए ही कार्य किए जाने चाहिए। यही आत्मा की वैधानिक अवस्था है।

उपर्युक्त श्लोकों से यह स्पष्ट होता है कि कर्म न करने से कर्म करना ही श्रेष्ठतर है। जैसा कि अंग्रेजी में कहा गया है, "एक निरुद्योग मन शैतान का कारखाना होता है" (An idle mind is the Devil's workshop). यदि इन्द्रिय कोई कर्म में संलग्न नहीं होता है और इस स्थिति में यदि कोई मन को खाली रखने का प्रयास करता है, तो प्राय: देखा जाता है कि मन निरर्थक विचारों में उलझ जाता है, और अंततः विषय-वस्तुएं मन और इन्द्रिय, दोनों को अपनी ओर खींच ले जाती हैं।

आत्मा पर त्रिगुणों के प्रभाव को ही माया कहते हैं। माया परम-सत्य की ही बहिरंगा-शक्ति है। जब आत्मा अनुचित तात्त्विकी समझ या अनुचित कार्यों के कारण परम-सत्य से अलग या वियोजित हो जाती है, तो उसका परिणाम केवल भ्रांति, उलझन और सांसारिक बन्धन ही होता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥३-१०॥

सृष्टि के प्रारम्भ में, ब्रह्माजी ने यज्ञविधीयों के साथ-साथ मानव-जाती की रचना की, और फिर कहा, "इस यज्ञ के माध्यम से तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी सभी कामनाओं को यह पूरी करे।"

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥३-११॥

यज्ञों से तृप्त होकर देवताएं तुम्हें भी तृप्त करेंगे। इस प्रकार परस्पर सद्भावना से तुम परम लाभ प्राप्त करोगे।

इष्टाभोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥३-१२॥

तुम्हारे यज्ञ कार्यों से संतुष्ट होकर देवताएं तुम्हारे जीवन की सभी आवश्यकताएं प्रदान करेंगे। परन्तु यदि देवताओं को अर्पित किए बिना कोई इस दान का उपभोग करता है तो वह चोर कहलाता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥३-१३॥

यज्ञ में अर्पित खाद्य के अवशेषों का ग्रहण करके सन्त सभी तरह के पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो मात्र अपने स्वार्थ के लिए भोजन पकाते हैं वे केवल अपने भौतिक बन्धन को बनाए रखते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३-१४॥

सभी जीव-जन्तु आहार पर निर्भर होते हैं, और आहार वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ कार्यों से उत्पन्न होती है, और यज्ञ कर्म से पैदा होता है।

~ अनुवृत्ति ~

दसवें श्लोक में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता कहा गया है। वेदों के अनुसार, संसार में ब्रह्मा ही सर्वप्रथम जीव हैं जो सीधे विष्णु से प्रकट होते हैं। ब्रह्मा का प्रकार्य ग्रह-मंण्डलों के दूसरे दरजे के सृष्टा के रूप में है। आधुनिक समय में, कुछ नास्तिक विचारक, जैसे कि आक्स्फर्ड विश्वविद्यालय के क्रमविकासीय जीवविज्ञानी रिचार्ड डौकिन्स ने स्वीकार किया है कि संभवत: किसी परग्रहियों ने ही धरती पर जीवन का बीज बोया है। हम में से कुछ लोगों के लिए यह बात कोरी कल्पना सुनाई दे सकती है, किंतु यह विचार निस्संदेह सत्य के बहुत निकट

भारत के प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्मदेव जग के सर्वोच्च लोक में रहते हैं जिसे सत्यलोक कहा जाता है। फिर ब्रह्मदेव के कुछ पुत्रों को, जिन्हें प्रजापति कहा जाता है, उन्हें ब्रह्मांड में हर जगह जीवन को आरंभ करने के लिए भेजा गया। परन्तु ब्रह्मदेव को एक परग्रही मानने के बजाय वैदिक शास्त्र उन्हें ब्रह्मांड के सभी जीव-जन्तुओं के पिता के रूप में दर्शाते हैं।

जबसे पश्चिमी सभ्यता वैदिक देव समूह के संपर्क में आई है तब से यह अनुमान जारी है कि वैदिक जनसमूह, जिन्हें अक्सर हिंदू कहा जाता है, वे 'पैगन' हैं - पैगन वे लोग होते हैं जो अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, किसी एक परम भगवान् की नहीं। इस प्रकार पश्चिमी अवेक्षक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक-ईश्वरवाद् का जन्म पश्चिम के अब्राहमिक धर्मों में ही हुआ था। किंतु यह बात सत्य नहीं।

वैदिक देव-समूह में अवश्य अनेक लघुतर देव हैं, किंतु वैदिक शास्त्र इस बात पर स्पष्ट हैं कि केवल एक ही परम-पुरुष या परम-प्रज्ञा है जो सबसे ऊपर है। उसे ब्रह्मन, परमात्मा, भगवान्, विष्णु या कृष्ण कहकर संबोधित किया जाता है। जैसा की ऋग्वेद (१.२२.२०) में कहा गया है

तद्विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय: दिवीव चक्षुराततम् ।

विष्णु के दिव्य चरण सबके उपर उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस तरह सूर्य सबके सिर के उपर होता है। विष्णुजी के पावन चरण हमारे सिर के उपर एक वैभवशाली संरक्षक के सूर्य-समान चौकन्ने आँखों कि भांति है।

श्रीमद्भागवतम् कहता है -

एते चाम्श कला: पुम्स: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

विभिन्न अवतार, या तो भगवान् के विस्तृत प्रभाव हैं या उनके विस्तृत प्रभावों के अंश हैं। किंतु श्री कृष्ण इन अवतारों के मूलस्त्रोत हैं। (श्रीमद्भागवतम् १.३.२८)

ऐतिहासिक तौर पर, यह मान लेना अनुचित है कि एक-ईश्वरवाद का विकास अब्राहमिक सभ्यताओं में किसी भी बाहरी प्रभाव के बिना हुई थी। असल में, ५०० ईसापूर्व में राजा साइरस के बेबीलोन व यहूदिया प्रांत पर विजय के पश्चात, अब्राहमिक धर्मों ने एक-ईश्वरवाद के विचार को फारसियों से ग्रहण किया। फारसियों के आगमन से पहले से लेकर दूसरे व तीसरे शतकों तक, जाना जाता था कि यहूदीवाद व ईसाईधर्म की मान्यताएं एक या अनेक देवताओं पर आधारित हैं। अत:, एकेश्वरवाद का अब्राहमिक धर्मों में क्रमश: विकास हुआ।

चूंकि वेदों में पाए गए एकेश्वरवाद की अवधारणा अब्राहमिक धर्मों से बहुत प्राचीन है, यह निष्कर्ष तर्कसंगत है कि अब्राहमिक धर्मों ने वैदिक धर्मों से ही इस विचार का ग्रहण किया है। अंतराल में, जोरास्टर के प्रभाव से, फारसियों ने भारत से एकेश्वरवाद के विचार को अपनाया और उसे मध्य-पूर्वी सभ्यताओं में प्रेषित किया। वाकई, एक-ईश्वरवाद सदैव भारतीय वैदिक शास्त्रों का केन्द्रीय विषय रहा है।

परन्तु, वेदों के तत्वज्ञान को गम्भीरता से समझने में नाकामी या संभवत: पश्चिमी विचार व धर्मों के मुकाबले वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण, सांस्कृतिक रूप से अभित्रस्त होकर, यूरोकेन्द्रित विद्वानो और रूढ़िवादी धार्मिकों ने भारतीय वैदिक सभ्यता को अधिकारहीन बना दिया है। जर्मन विद्वान मैक्स म्यूलर ने १९ वी सदी में, आर्य-आक्रमणवाद की सृष्टि के द्वारा इस विषय पर और अधिक गलत सूचना का प्रचार किया, यह कहकर की वैदिक सभ्यता का जन्म भारत में नहीं हुआ। किंतु ये सब सत्य से काफी दूर हैं।

म्यूलर के अनुसार आर्यन एक यूरोपीय खानाबदोश जनजाति थे जिन्होने भारत पर आक्रमण किया। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि आर्यन खानाबदोश थे। दरसल, यह सुझाव कि एक असभ्य खानाबदोश आदिवासियों

ने वेदों जैसे गहन ज्ञान से परिपूर्ण शास्त्रों की रचना की होगी, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

और तो और, वेदों में किसी मातृभूमी का भी कोई उल्लेख नहीं है, और पुरातात्त्विकी अन्वेषणों में भी प्रमाणों के पूरे अभाव के कारण यह भी कहा नहीं जा सकता कि कोई आक्रमण कभी हुआ था। अत:, केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यन जनसमूह और वैदिक विद्या सदैव भारतीय ही रहे हैं।

वैदिक ज्ञान कहता है कि विष्णु / कृष्ण ही परम भगवान् हैं और अन्य लघुतर देवी -देवताएं जैसे कि ब्रह्मा, शिव, गणेश, कार्तिकेय, काली, सरस्वती आदि, वस्तुत: परमपुरुष के सेवक हैं और उन्हें प्रकृति के लौकिक प्रशासन की व्यवस्था संबंधी कर्तव्यों को करने के लिए सशक्त किया गया है। उपर्युक्त श्लोकों में श्री कृष्ण, देवताओं के प्रति भोग-अर्पण करने की संस्तुति करते हैं, इस प्रकार देवताएं प्रसन्न होते हैं और मानवजाती के जीवन की सभी आवश्यकताओं को वे पूरा करते हैं। संक्षेप में, यही लौकिक कर (टैक्स) की प्रणाली है। दूसरे शब्दों में, हमें देवताओं का शुल्क चुकाना चाहिए।

आत्मा का भी अंतर्भूत स्वभाव सेवा व त्याग ही होता है। वैधानिक रूप से आत्मा, जो अवयव समष्टि (परम-सत्य) का अंश है, वह इस जन्म में तो क्या, वह अनन्तकाल के लिए समष्टि की सेवा करने के लिए कर्तव्य बद्ध है। जब श्री कृष्ण (विष्णु) को शाकाहारी व्यंजन जो कि फल, सब्जी इत्यादि से बना होता है, उसके बाद ऐसे प्रसाद को ग्रहण करने से हमारे इन्द्रियां शुद्ध होती हैं। परन्तु यदि कोई संसार के स्वामी के प्रति आभार प्रकट किए बिना ही इस संसार की वस्तुओं का उपभोग करता है तो वह केवल कर्म की प्रतिक्रिया का फल भोगना पड़ता है। यह नियम हमारे दैनिक आहार पर भी लागू होता है, जिसे खाने से पहले उसे विष्णु या कृष्ण को अर्पित करना चाहिए। भगवद्गीता में आगे श्री कृष्ण द्वारा यह समझाया जाता है कि भगवान् के भोग में केवल सब्जी, फल, दूध के उतपाद, एवं फूल आदि ही चढ़ाए जा सकते हैं। मांसाहारी भोजन विष्णु या कृष्ण को अर्पित नहीं किया जा सकता - इसलिए विष्णु या कृष्ण के सभी भक्त शाकाहारी होते हैं। कृष्ण यह भी समझाते हैं कि जो परम-सत्य (भगवान) की सेवा करते हैं वे अन्य देवी-देवताओं की सेवा करने के लिए बाध्य नहीं होते हैं, और न कोई सामाजिक नियमों के अधीन होते हैं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३-१५॥

यह जानो कि निर्धारित कर्म वेदों से प्राप्त होते हैं, और वेद अविनाशी परम-सत्य से उद्भव होते हैं। इस प्रकार, सर्वभूत परम-सत्य नित्य यज्ञ-कार्यों में विद्यमान होता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥३-१६॥

हे पार्थ, जो संसार में रहकर इस वैदिक व्यवस्था को अस्वीकार करता है, वह केवल इन्द्रियों के सुख के लिए एक अधर्मी जीवन बिताता है - इस तरह वह अपना जीवन व्यर्थ कर देता है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३-१७॥

परन्तु, जो व्यक्ति स्वयं में ही सुख अनुभव करता है, उसका कोई कर्तव्य नहीं होता। वह स्वयं में ही सुखी रहता है, और अंतरतः पूर्ण रूप से आत्मसंतुष्ट होता है।

नैव तस्य कृतेनाओं नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३-१८॥

इस संसार में वह ना तो कर्म करने से, ना कर्म न करने से लाभ प्राप्त करता है। न वह दूसरों पर निर्भर होता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३-१९॥

इसलिए, फल के प्रति अनासक्त रहकर अपने निर्धारित कर्मों को अच्छी तरह से करते जाओ। अनासक्त रहकर कर्म करने से व्यक्ति परम-सत्य प्राप्त करता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३-२०॥

बीते समय में, जनक आदि जैसे राजाओं ने अपने निर्धारित कर्मों के निष्पादन द्वारा परम-सिद्धि प्राप्त की। जन-सामान्य के लिए एक उचित आदर्श स्थापित करने के लिए तुम्हें भी इस प्रकार उचित आचरण करना होगा।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१॥

जिस तरह एक महान व्यक्ति अपना आचरण करता है सामान्य जनता भी उसी तरह उसका अनुसरण करती है। तदनुसार, अपने कार्यों से जो आदर्श वह प्रस्तुत करता है, अन्य लोग भी उसीके पदचिह्नों पर उसका अनुसरण करते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

वैदिक प्रणाली में राजनैतिक व आध्यात्मिक नेतृत्व का अर्थ है कि स्वयं मिसाल बनकर दूसरों का नेतृत्त्व करें। दुर्भाग्यवश, आज संसार में, अच्छे नेता मुश्किल से पाए जाते हैं। न केवल यह जानकर हम निराश हैं कि जिन नेताओं को हमने सार्वजनिक कार्यालयों के अधिकारी पदों पर चुने हैं, प्राय: वे अपने ही लाभ के लिए देश की धन-संपत्ति ऐंठ जाते हैं, बल्कि हम यह देखकर और भी हैरान हैं कि हमारे कई तथाकथित आध्यात्मिक गुरु सबसे बुनियादी सदाचार के नियमों का भी पालन नहीं कर सकते, और घृणाजनक भ्रष्टाचार में संलग्न पाए जाते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं कि एक महान व्यक्ति के आचार-व्यवहार का जन-सामान्य अनुसरण करती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कैसे फिल्म स्टार, रोकस्टार, और खेल के विख्यात खिलाड़ी अधिकांश जनता को प्रभावित करते हैं। यह केवल एक मानवीय स्वभाव है कि हम दूसरों से प्रभावित हो जाते हैं, इसलिए प्रेरणास्त्रोत व्यक्तियों का होना आवश्यक है। किंतु मानव समाज को ऐसे प्रेरणास्त्रोत व्यक्ति चाहिए जो ज्ञानपूर्ण हों, सुसंस्कृत हों, सदाचारी हों और आध्यात्मिक रूप में उन्नत हों।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२॥

हे पार्थ, तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। मुझमें कोई अभाव नहीं है और ना मैं कुछ पाना चाहता हूँ - फिर भी मैं कार्य नियुक्त रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥३-२३॥

यदि मैं कार्य करना छोड़ दूं तो सब लोग मेरा ही पथ अपनाएंगे और अपने निर्धारित कर्मों की अवहेलना करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥३-२४॥

यदि मैं उचित आचार-व्यवहार न करूँ, तो सामान्य जनता का सर्वनाश हो जाएगा और अवांछित संतानों का मैं जिम्मेदार बन जाऊँगा। इस तरह मैं स्वयं प्रजा के नाश का कारण बन जाऊँगा।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥३-२५॥

हे भरतवंशी अर्जुन, जिस तरह अज्ञानी अपने कर्मों से आसक्त होते हैं, उसी तरह बुद्धिमान को भी सबके कल्याण के लिए अपना कर्म करना चाहिए, किंतु अनासक्त रहकर।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥३-२६॥

बुद्धिमान लोगों को कभी भी स्वार्थी कर्मों से आसक्त अज्ञानीयों के मन को अशांत नहीं करना चाहिए। बल्कि, बुद्धिमानों को अनासक्त रहकर अपने कर्तव्यों का पूरी तरह से पालन करना चाहिए, और अज्ञानीयों को प्रोत्साहन देकर उन्हें पुण्य कर्मों में संलग्न करना चाहिए।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥३-२७॥

प्रकृति के त्रिगुण ही सभी कार्यों के कर्ता हैं। परन्तु जो स्वयं के शारीरिक मिथ्याबोध से मोहित होते हैं, वे सोचते हैं कि, "कर्ता मैं हूँ।"

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त श्लोकों में श्री कृष्ण कहते हैं कि उनके लिए कोई कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं है, और ना उनमें कोई अभाव है, न उन्हें कुछ प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में कृष्ण पहले से ही सिद्ध और परिपूर्ण हैं - ॐ पूर्णम्। फिर भी कृष्ण कार्य करने में व्यस्त रहते हैं; वे निष्क्रिय नहीं हैं। प्रत्येक युग में धर्म की स्थापना के लिए एवं मानवजाति के कल्याण के लिए वे कार्य करते हैं - धर्मं तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतं। जब परम-पुरुष के कोई अवतार अपना अविर्भाव इस भौतिक जगत में करते हैं, तो वे सनातन धर्म की स्थापना के लिए ही करते

श्री कृष्ण द्वापरयुग के अन्त में लगभग ५२४७ वर्ष पूर्व (३२२८ बीसी) में प्रकट हुए और उन्होंने भगवद्गीता के उपदेश दिए। परन्तु, यह कृष्ण का सबसे नवीनतम अविर्भाव नहीं था। कलियुग के आरंभ के पश्चात, श्री कृष्ण फिर प्रकट हुए थे, अब से ५३३ वर्ष पूर्व (१४८६ ईस्वी)। कलियुग के कृष्णावतार, श्री चैतन्य महाप्रभु के नाम से जाने जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार में, कृष्ण ने भगवद् गीता के अध्ययन के साथ, संकीर्तन - महामन्त्र के सामूहिक कीर्तन की प्रक्रिया को सिखाया। महामन्त्र के विषय में कलि-सन्तरण उपनिषद् में यह उल्लेख है -

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

इति षोड़शकं नाम्नां कलि-कल्मष नाशनम् ।
नातः परतरोपायः सर्व-वेदेषु दृश्यते ॥

महामन्त्र के ये सोलह शब्द विशेष रूप से कलियुग के पाप के निवारण हेतु निर्दिष्ट हैं। कृष्ण के नामों के जाप के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। वेद-शास्त्रों में सर्वत्र खोजने के उपरांत भी कलियुग के लिए इससे अधिक उत्कृष्ट विधि कहीं पाई नहीं जा सकती। (कलि-सन्तरण उपनिषद् २)

महामन्त्र की दिव्य-शक्ति का विवरण पद्म-पुराण में इस प्रकार दिया जाता है -

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य-रस-विग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वन् नाम-नामिनोः ॥

श्री कृष्ण का नाम एक ऐसी दिव्य चिन्तामणि है जो समस्त दिव्य-रसों से भरपूर है। पूर्ण, शुद्ध, और नित्य मुक्ति प्रदाता कृष्णनाम, कृष्ण से अभिन्न है।

भगवद्गीता का अध्ययन और संकीर्तन की पद्धति अब सारे विश्व में फैल चुकी है। अब ये मात्र भारत में पाई जाने वाली वस्तुएं नहीं हैं। इस विषय पर अध्याय ४, श्लोक ८ में और भी चर्चा की जाएगी।

कर्म के उचित प्रकार को और कर्म के फलों के स्वामी को केवल तब समझा जा सकते है, जब व्यक्ति स्वयं के शारीरिक परिचय से, या अपने आत्मा को केवल एक शारीरिक उपोत्पाद समझने के विचार से, या स्वयं को ही अपने कर्मों का कर्ता समझने के विचार से मुक्त हो जाता है।

हम चलते हैं, बात करते हैं, खाना पचाते हैं, इमारतें खड़ी करते हैं, यहां तक की सामराज्य भी बना लेते हैं, किंतु ये सारे उद्यम प्रकृति के त्रिगुणों के मेल-मिलाप से, और विश्वव्यापी महत्प्रज्ञा परमात्मा के अनुमोदन से ही हमारे लिए संभव होते हैं। जीवन की शारीरिक अवधारणा में बद्ध लोगों के लिए इन सब क्रियाओं के कार्यान्वयन की प्रक्रिया अचिंतनीय है। इसलिए, मिथ्या अहंकार से उगनेवाले इस विचार को, कि "मैं यह शरीर हूँ", उसका परित्याग कर देना चाहिए। हम कौन हैं? हम कहाँ से आए हैं? हम यहाँ पर क्यों हैं? क्या मृत्यु के पश्चात फिर जीवन है? इन सब प्रश्नों के उत्तर अपने आप समझमें आने लगते हैं जब व्यक्ति स्वयं को एक शरीर समझना छोड़ देता है। पश्चिमी सभ्यता के कई महान विचारकों ने जीवन और मृत्यु के मौलिक प्रश्नों पर बहुत संघर्ष किया, लेकिन वे उनके उत्तर खोजने में या इन समस्याओं के समाधान खोजने में नाकाम रहे। आत्म-साक्षात्कार और परम-सत्य का विज्ञान, जीवन की शारीरिक अवधारणा के परित्याग से ही आरंभ होती है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥३-२८॥

और फिर भी, हे महाबाहु, कर्म और प्राकृतिक गुणों के सत्य का जानकार, यह जानता है कि ये सब केवल त्रिगुणों की परस्पर अन्त:क्रिया है, और इस कारण वह अनासक्त रहता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥३-२९॥

त्रिगुणों के प्रभाव से विमूढ लोग, उन्हीं गुणों से संचालित लौकिक क्रियाओं में डूबे रहते हैं। बुद्धिमान को कभी भी इन अज्ञानियों को अशांत नहीं करना चाहिए।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३-३०॥

मुझ पर अपने सभी कर्मों को संपूर्ण रीत से समर्पित कर, अपनी प्रज्ञा को पूरी तरह से अपनी आत्मा में स्थापित कर, बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रभुत्व की भावना के, और खेद-रहित होकर - युद्ध करो!

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३-३१॥

जो मेरे इन उपदेशों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण, ईर्ष्या-रहित होकर करे, वे कर्म के बंधन से मुक्त हो जाएंगे।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३-३२॥

परन्तु, यह जान लो कि जो ईर्ष्या के कारण मेरे उपदेशों का अनुसरण नहीं करते, वे समस्त ज्ञान से वंचित हैं। जीवन का लक्ष्य उनकी आँखों से ओझल हो चुका है, और वे बुद्धिहीन हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३-३३॥

एक प्रज्ञावान व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार ही बर्ताव करता है। जब सभी जीव अपने अपने स्वभावों के अनुसार ही आचरण करते हैं, तो निग्रह से क्या संपन्न होता है?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३-३४॥

इन्द्रिय, विषय वस्तुओं से आकर्षित व विकर्षित होते हैं। किंतु व्यक्ति को ऐसे आकर्षण व विकर्षण के वश नहीं होना चाहिए।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३-३५॥

अपने ही निर्धारित धर्मों को त्रुटिपूर्ण ढंग से करना, किसी और के धर्मों के उत्तम निष्पादन से श्रेष्ठतर है। अपने ही धर्मों को निभाते मर जाना अच्छा है, क्योंकि दूसरों के धर्मों को करना संकटपूर्ण है।

~ अनुवृत्ति ~

सांसारिक जीवन में अनेक दोष हैं। यहाँ पर श्री कृष्ण ने कुछ ऐसे दोष बताए हैं जिन्हें भगवद्गीता के गंभीर अध्येताओं को मुख्य रूप से ध्यान में रखने चाहिए। श्री कृष्ण ने अविद्या, मूर्खता, स्वार्थी अभिप्रेरण, मिथ्या स्वामित्व की भावना, तथा विषय वस्तुओं के प्रति आकर्षण व विकर्षण, यहाँ वर्णित किए हैं। किंतु सबसे भयंकर दोष है ईर्ष्या। ऐसा मालूम होता है कि ईर्ष्या पूरी तरह से दोषपूर्ण होता है, जैसे कि कृष्ण कहते हैं कि जो भगवद्गीता के उपदेशों को ईर्ष्या के कारण नहीं मानते वे समस्त ज्ञान व प्रज्ञता से वंचित हो जाते हैं।

एक और खतरा यह है कि अपने निर्धारित धर्म को छोड़कर किसी और के धर्म का पालन करना। दूसरे शब्दों में, कृष्ण अर्जुन को अपने काम से काम रखने की सलाह देते हैं। अर्जुन एक क्षत्रिय है, और जैसे कि पहले चर्चा की गई थी, उनका धर्म है राज्य की रक्षा करना। परन्तु अर्जुन वैराग्य की ओर झुक रहे थे - संन्यासी बनना चाहते थे। अर्जुन अपने धर्म को छोड़कर पराया धर्म अपनाना चाहते थे, किंतु कृष्ण उन्हें चेतावनी देते हैं कि यह अच्छी बात नहीं। दरसल, कृष्ण यह भी कहते हैं कि ऐसा करना खतरनाक है। कृष्ण समझाते हैं कि अपने निर्धारित धर्म को त्रुटिपूर्ण ढंग से करना, पराए धर्म को अच्छी तरह करने से बेहतर है।

विशेष तौर पर यहां श्री कृष्ण अर्जुन को क्षत्रिय धर्म के नियमों का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं - जिसके अनुसार रणभूमी को छोड़कर चले जाना कोई विकल्प नहीं।

अर्जुन उवाच ।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापंचरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३-३६॥

अर्जुन ने पूछा - हे कृष्ण, हे वार्ष्णेय, वह क्या है जो व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरुद्ध, जैसे की ज़बरन, पाप करने पर उत्तेजित करता है।

श्रीभगवानुवाच ।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३-३७॥

भगवान् श्री कृष्ण बोले - वह काम है, जो रजोगुण से प्रकट होनेवाले क्रोध में परिवर्तित हो जाता है। यह जानों की यह काम बिल्कुल ही अतोषणीय है और अत्यंत अमंगलकारी है। इस संसार का यही सबसे बड़ा शत्रु है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३-३८॥

जिस तरह आग को धुआं ढकता है, दर्पण को धूल ढकता है, और जिस तरह भ्रूण को गर्भाशय ढकता है, उसी तरह काम जीव की चेतना को ढक देता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३-३९॥

हे कौन्तेय, सब कुछ भस्म कर देनेवाले प्रचण्ड अग्नि के समान, शाश्वत अभिशाप के रूप में यह काम, एक प्रज्ञावान व्यक्ति के विवेक को भी ढक सकता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥३-४०॥

ऐसा कहा जाता है कि इस वैरी के अधिष्ठान इन्द्रियां, मन, एवं बुद्धी हैं। व्यक्ति के ज्ञान को आवृत कर, देहबद्ध जीवात्मा को यह भ्रमित कर देता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥३-४१॥

अत: हे भरतश्रेष्ठ, तुम्हें पहले अपने इन्द्रियों को वश में करना होगा और काम को मिटाना होगा, जो समस्त अधार्मिकता का मूर्त रूप है और जो ज्ञान व विज्ञान का नाशक है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥३-४२॥

प्रज्ञावान कहते हैं कि विषय वस्तुओं से इन्द्रियां श्रेष्ठतर हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठतर हैं, बुद्धी मन से श्रेष्ठतर है, और बुद्धी से श्रेष्ठतर है आत्मा।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रु महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३-४३॥

हे महाबाहु अर्जुन, आत्मा को बुद्धी से श्रेष्ठतर समझकर, विशुद्ध चेतना से मन को स्थिर करो, और इस तरह काम-रूपी इस अदम्य शत्रु को परास्त करो।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ यह बताया गया है कि मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है और बुद्धी मन से, परन्तु बुद्धी से उपर है चेतना या आत्मा। मन, इन्द्रिय, और बुद्धी से भौतिक शरीर बनता है, और इसलिए इन्हें जड़ पदार्थ समझा जाता है। भगवद्गीता के सातवे अध्याय के चौथे श्लोक में श्री कृष्ण आठ भौतिक पदार्थों की सूची देते हैं - भूमि, जल, अग्नि, हवा, व्योम, मन, बुद्धी, तथा अहंकार। फिर अगले श्लोक में कृष्ण एक श्रेष्ठतर शक्ति का परिचय देते हैं और वह है जीव-भूत - चेतना के व्यष्टिगत ईकाईयां या आत्मा। कृष्ण कहते हैं कि जीव-भूत या आत्मा, स्पष्ट रूप से भौतिक पदार्थों से अलग है। वह पूरी तरह से आध्यात्मिक है।

किंतु जब पूरी तरह हावी होने वाली, आत्म-साक्षात्कार की शत्रु, काम-वासना, उच्चतर जीव-भूत के मन, इन्द्रिय, और बुद्धी को आवृत कर ले तब व्यक्ति के ज्ञान व विज्ञान का नाश हो जाता है। इस कारण श्री कृष्ण कहते हैं कि पहले एक योगी को काम-वासना पर विजय पाना चाहिए। यदि व्यक्ति अपने काम-वासना की तृष्णा को तृप्त करने के बजाय अपनी उच्चतर प्रज्ञा के सहारे अपने निचले स्वयं को वश में करता है, तो काम-वासना अंतत: परास्त हो जाती है। परन्तु यदि वह अपनी काम की तृष्णा को तृप्त करने का प्रयास करता है तो यह जलती आग में घी डालने के समान होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अतः व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए कर्म योग नामक तृतीय अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ४

ज्ञान योग

श्रीभगवानवाच ।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥४-१॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - मैंने सूर्यदेव विवस्वान को यह अविनाशी योगविद्या प्रदान की थी। उसके बाद विवस्वान ने इस ज्ञान को वैवस्वत मनु को बताया, और मनु ने इक्ष्वाकु को इसी ज्ञान की शिक्षा दी।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥४-२॥

इस प्रकार, हे शत्रुविजयी अर्जुन, राजर्षियों ने इस ज्ञान को गुरु-शिष्य परम्परा की पद्धति द्वारा प्राप्त की। परन्तु कालांतर मे यह योगविद्या विलुप्त हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥४-३॥

पुनः इस प्राचीन योग विज्ञान को मैं तुम्हें दे रहा हूँ। चूंकि तुम मेरे प्रिय मित्र व भक्त हो, तुम उस दिव्य रहस्य को समझ पाओगे जिसकी व्याख्या मैं तुमसे करने जा रहा हूँ।

अर्जुन उवाच ।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४-४॥

अर्जुन ने कहा -आपका जन्म तो हाल ही में हुआ है जब की सूर्यदेव बहुत पहले प्रकट हुए थे। तो मैं यह कैसे समझें कि आपने ही उन्हें योग-विज्ञान की शिक्षा दी थी?

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण के उपर्युक्त वचनों के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता एक प्राचीन ग्रन्थ है। कृष्ण कहते हैं कि उन्होंने बहुत पहले सूर्यदेव विवस्वान को यह योग-विद्या प्रदान की थी, ओर तत्पश्चात विवस्वान ने अन्य देवताओं को और राजर्षियों को यह ज्ञान प्रदान किया। एक से दूसरे को ज्ञान प्रदान करने की पद्धति को परम्परा

कहते हैं। किंतु कालांतर में योग का यह ज्ञान लुप्त हो गया और इसलिए कृष्ण पुन: अर्जुन को भगवद्गीता का ज्ञान दे रहे हैं।

भगवद्गीता को पूर्ण रूप से समझने की योग्यता यहां बताई गई हैं। उन्हें कृष्ण का भक्त होना चाहिए और उन्हें यह समझना चाहिए कि कृष्ण सारे जीवात्माओं के मित्र हैं - सुहृदं-सर्व-भूतानाम्। भक्ति-योग में हम भगवान् से भय नहीं करते क्योंकि कृष्ण कोई क्रोध करने वाले भगवान् नहीं हैं। कृष्ण हमारे सबसे प्रिय मित्र हैं और सदा हमारे हितैषी हैं। कृष्ण ही हमारे प्रेम, पूजा, व प्रणय के सर्वोच्च पात्र हैं। और कृष्ण में अपने भक्तों के लिए गहरी प्रेम की भावना है।

इन श्लोकों से हमें यह भी समझना चाहिए कि योग का ज्ञान केवल योगशाला के शिविर के लिए नहीं है। योग का ज्ञान दरसल दुनिया की सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान की शाखा है जिसका अध्ययन राज्य के शासकों से लेकर नागरिकों तक प्रत्येक विवेकपूर्ण मनुष्य को करना चाहिए। योग का अध्ययन व अभ्यास करने का अवसर सभी को प्राप्त होना चाहिए, जिससे व्यक्ति जीवन में आसानी से संपूर्ण-सिद्धी प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन के मन में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि कृष्ण ने विवस्वान को भगवद्गीता के उपदेश कैसे दिए, क्योंकि कृष्ण तो कुछ ही समय पहले आए जबकी विवस्वान लाखों वर्ष पहले आए थे?

श्रीभगवानुवाच ।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥४-५॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - हे शत्रु-विध्वंसक अर्जुन, हम और तुम कई जन्मों से गुज़र चुके हैं। मुझे उन सभी जन्मों का स्मरण है, परन्तु तुम्हें नहीं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥४-६॥

हाला कि में अजात हूँ और मेरा स्वरूप अविनाशी है, और मैं सर्वेश्वर भी हूँ, तब भी अपने भौतिक प्रकृति को अपने अधीन रखकर मैं स्वयं अपनी शक्ति से प्रकट होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४-७॥

हे भरतवंशी, जब जब धर्म का पतन होता है और अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं स्वयं प्रकट होता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥४-८॥

पुण्यात्माओं की रक्षा और दुष्कर्मियों के विनाश के लिए, एवं धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में आता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥४-९॥

जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मों को समझते हैं उनका देहांत के पश्चात पुनर्जन्म नहीं होता। हे अर्जुन, वह मेरे पास आते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

जो श्री कृष्ण के आविर्भाव व कर्मों को समझते हैं वे निश्चय ही जन्म और मृत्यु के चक्र से परे स्थित हो जाते हैं। भौतिक जीवन में सभी जीवात्माएं, एक जन्म से दूसरे जन्म में शरीर के निरंतर देहांतरण की अवस्था में रहते हैं। जब कोई शुद्ध आध्यात्मिक चेतना की अवस्था प्राप्त कर लेता है तब वह संसार व देहांतरण की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हम दोनों ही कई जन्मों से गुज़र चुके हैं, जिन्हें तुम (अर्जुन) तो भूल चुके हो, किंतु मुझे (कृष्ण) उन सब जन्मों का स्मरण है।

चूंकि जीवात्माएं मृत्य के समय अपना शरीर बदलती हैं, इसलिए वे अपने पिछले जन्मों को भूल जाते हैं। श्री कृष्ण ही परम-सत्य हैं, और इसलिए वे कभी भी अपना शरीर नहीं बदलते। चूंकि कृष्ण अपना शरीर नहीं बदलते इसलिए वे कुछ भी नहीं भूलते। श्री कृष्ण और उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं, जब कि जीवात्माएं भौतिक जीवन में भौतिक पदार्थों से देहबद्ध होती हैं। भौतिक संसार में सभी जीवात्माओं के शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार जैसे मूलभूत पदार्थों से निर्मित होते हैं। भगवान् श्री कृष्ण का

स्वरुप सच्चिदानन्द (सत-चित-आनन्द) है। कृष्ण का स्वरूप सच्चिदानन्द है, अत: कृष्ण और उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। वे दिव्य एवं आध्यात्मिक हैं।

श्री कृष्ण को न केवल अपने सभी जन्मों का स्मरण है, परन्तु उन्हें अर्जुन के भी पिछले सभी जन्मों का स्मरण है। जो पूर्ण रूप से सर्वज्ञ हैं, यही परम-सत्य के लक्षण हैं।

योगविद्या के विलुप्त हो जाने पर धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान स्वाभाविक है। श्री कृष्ण कहते हैं कि जब ऐसा होता है, तब वे इस दुनिया में धर्म की पुनर्स्थापना करने केलिए प्रकट होते हैं। ऐसे कर्तव्यों, कार्यों, तथा अभ्यासों को धर्म कहा जाता है जो लोगों को कुशल-मंगल बनाए रखे और उन्हें उनकी सृष्टिपरक वैधानिक स्थिति को जानने में उनकी सहायता करे जिससे कि वे यह समझ सके कि वे परम-सत्य श्री कृष्ण के ही सचेत अवयवभूत अंश हैं। इस दुनिया के सांसारिक आस्थाओं (Religions) को धर्म मान लेना गलत है।

आठवे श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि वे प्रत्येक युग में (युगे युगे) युगधर्म की स्थापना करने प्रकट होते हैं। सत्ययुग में श्री कृष्ण हंस, मत्स्य, कूर्म, वराह, और नृसिंह अवतार में प्रकट हुए। त्रेतायुग में वे वामन, परशुराम, और रामचन्द्र बनकर आए। द्वापरयुग में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण पधारे, और कलियुग में वे बुद्ध और श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में आए। एक और अवतार हैं जो आज से लगभग ४,२७,००० वर्ष पश्चात, कलियुग के अंत में आनेवाले हैं, वे हैं कल्कि ।

जब कृष्ण भगवद्गीता का ज्ञान दे रहे थे, तब द्वापरयुग का अंत हो रहा था - ऐसा युग जहां बहुत धर्मनिष्ठता हुआ करती थी और मद्यपान की दुकानें, अवैध यौन-क्रिया, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नशीली पदार्थों का दुष्प्रयोग, और गठित रूप में पशु संहार जैसी बुराईयों का खुलेआम प्रचलन तब बिल्कुल ही अनसुना हुआ करता था। आज, पाँच हजार वर्ष पश्चात, हम एक ऐसे युग में हैं जिसे कलियुग कहा जाता है, जहां पर ऐसी बुराईयां सामान्य तौर पर सब जगह देखी जाती है जो द्वापरयुग में अनसुनी हुआ करती थी।

जिस प्रकार श्री कृष्ण द्वापरयुग के अंत में प्रकट हुए थे, उसी तरह पुन: कलियुग में, ४५७६ वर्ष पश्चात वे श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए। श्री चैतन्य महाप्रभु को कलियुग के अवतार या युगावतार भी कहा जाता है। युगावतार के रूप में, श्री कृष्ण ने नाम-संकीर्तन के धर्म की शिक्षा दी, जिसे महामन्त्र का

कीर्तन कहते हैं, और जो न केवल आत्म-साक्षात्कार के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन है, परन्तु कलियुग में आत्म-साक्षात्कार के लिए इसे इकलौता अनुशंसित साधन माना गया है। बृहन्नारदीय पुराण (३८.१२६) में इस बात को निर्णायक ढंग से कहा गया है -

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

कलियुग में हरिनाम के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं।

जब महामन्त्र को सामूहिक तौर पर उच्च स्वर में गाया जाता है, तब उसे कीर्तन या संकीर्तन कहते हैं। जब महामन्त्र का मंद स्वर में उच्चारण करते हुए, एक-सौ-आठ मणियों की माला पर उनके आवर्तन गिने जाते हैं, तब उसे जाप कहते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु तथा संकीर्तन आन्दोलन के आविर्भाव के पश्चात, सार्वभौम भट्टाचार्य और प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे अनेक महान व विद्वान पण्डितों ने, तत्त्वज्ञानियों ने, एवं योगियों ने, सभी योग, वेदान्त व दर्शन प्रणालियों को एक तरफ रखकर, कृष्ण के पवित्र नामों के जाप में स्वयं को पूरी तरह से निमग्न कर लिया है। महान परमहंसों के अनुसार, इस युग में आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए, महामन्त्र का कीर्तन ही सबसे पक्का रास्ता है। श्रीमद्भागवतम् में कहा गया है -

कलेर् दोष-निधे राजन्न् अस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परंव्रजेत् ॥

हाला कि कलियुग अनेक दोषों से भरा एक महासागर है, जहां पर लोग अल्पायु, मंद और सदैव अशांत होते हैं, फिर भी इस युग की एक महान विशेषता यह है कि केवल श्री कृष्ण का नाम जपने से ही व्यक्ति अपने सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकता है और परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। (श्रीमद्भागवतम् १२.३.५१)

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरि कीर्तनात् ॥

> सत्ययुग में विष्णु पर तपस्या करने से, त्रेतायुग में विस्तारपूर्वक यज्ञ कार्य करने से, तथा द्वापरयुग में भगवान् की श्री मूर्ति के अर्चन से, जो परिणाम पाए जाते थे, कलियुग में महज़ श्री कृष्ण के नाम-संकीर्तन द्वारा वही परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। (श्रीमद्भागवतम् १२.३.५२)

महामन्त्र का जाप हमें आत्म-साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़ाता है, क्योंकि यह हमारे हृदय से सांसारिक वासनाओं को मिटाकर उसे निर्मल बनाता है, यह हमारे जीवन की मिथ्या धारणाओं का सफाया करता है, और इस प्रकार यह हमे जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ती प्रदान करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक श्लोक की रचना की है जहांपर उन्होंने संकीर्तन या महामन्त्र के जाप से प्राप्त होने वाले लाभों को इस प्रकार बताया गया है -

चेतोदर्पण मार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापणं
श्रेय: कैरव चन्द्रिका वितरणं विद्यावधू जीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्म स्नपनं परं विजयते श्री कृष्ण संकीर्तनम् ॥

> कृष्ण का पवित्र नाम हृदय के दर्पण को स्वच्छ बनाता है, और जन्म और मृत्यु के सांसारिक जंगल की क्लेशाग्नि को बुझाता है। जिस तरह ब्रह्मकमल, चन्द्रमा की शीतल किरणों में खिलता है, उसी तरह हमारा हृदय भी कृष्ण के नामामृत में फूलने लगता है। अंत में आत्मा को अपने सच्चे आंतरिक निधी की जागरूकता, यानी कि कृष्ण के संग एक प्रेमपूर्वक जीवन बिताने की जागरूकता उसे होने लगती है। पुन: पुन: अमृत का आस्वादन करते हुए, आत्मा एक निरंतर बढ़ती हुई आनन्दातिरेक के सागर में पुन: पुन: डुबकि लगाती है और सतह पर आती है। स्वयं के उन सभी पहलूओं को जिनका हम विचार कर सकें, वे सभी पूर्ण रूप से संतुष्ट एवं शुद्ध हो जाते हैं, और अंत में कृष्ण के पवित्र नाम के सर्वमंगल प्रभाव से वे परास्त हो जाते हैं। (शिक्षाष्टक १)

श्री चैतन्य महाप्रभु ने महामन्त्र का कीर्तन एवं जाप करने की शिक्षा दी और साथ ही अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व नामक एक संपूर्ण दार्शनिक प्रणाली की भी शिक्षा दी, जिस प्रणाली के अभ्यन्तर भारत की सभी अग्रगामी महान दार्शनिक प्रणालियां समा जाती हैं, जैसे की आदिशंकराचार्य की अद्वैत प्रणाली, विष्णु स्वामी की शुद्धाद्वैत प्रणाली, निम्बार्काचार्य की द्वैताद्वैत प्रणाली, रामानुजाचार्य

की विशिष्टाद्वैत प्रणाली, एवं मध्वाचार्य की द्वैत प्रणाली। तत्त्विकी रूप से अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व परम-सत्य की समकालिक भेद एवं अभेद का सिद्धांत है जिसकी पराकाष्ठा है प्रेम-भक्ति। इस हिसाब से, श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस जग में अध्यात्मिक परिपूर्णता को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ दर्शन प्रकाशित किया है।

महामन्त्र के जाप के साथ साथ द्वापरयुग में प्रचलित मूर्ती-पूजा आज भी लोकप्रिय है। श्री मूर्ती, स्वयं श्री कृष्ण का अर्च-विग्रह प्रतिरूप है जो साधक के समक्ष विद्यमान रहता ताकि वह उसकी अर्चना कर सके और अपने मन व इन्द्रियों को भगवान् पर केन्द्रित कर सके। जब एक शास्त्र-संत द्वारा अधिकृत अर्च-विग्रह उपस्थित होता है, तो उसकी पूजा को निर्जीव एवं अनधिकृत बुतों की पूजा समझकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। आज, भक्ति-योग का अनुसरण करने वाली संस्थाओं में श्री कृष्ण के अर्च-विग्रह जैसे कि जगन्नाथ, पञ्चतत्त्व, गौर-निताइ, गौर-गदाधर, श्री नरसिंह और श्री श्री राधा-कृष्ण की अर्चना प्रचलित है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहयो ज्ञानतपसा पूता मद्भायमागताः ॥४-१०॥

सांसारिक बन्धनों, भय एवं क्रोध से मुक्त होकर, तथा मेरी चिंतन में निमग्न रहकर अनेक लोगों ने मेरी शरण ली है, तपस्या के ज्ञान से विशुद्ध हुए हैं, ओर इस प्रकार मेरे प्रति दिव्य भाव को प्राप्त कर चुके हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥४-११॥

जिस भाव से लोग मेरे प्रति आत्मसमर्पण करते हैं, तदनुसार मैं उन्हें प्रतिफल प्रदान करता हूँ। हे पार्थ, सब लोग मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥४-१२॥

इस संसार में, लौकिक सफलता की कामना करनेवाले देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मानव समाज में ऐसी पुजा-पाठ से सफलता शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥४-१३॥

मैंने ही चार सामाजिक वर्णों की सृष्टि की है जिन्हें प्राकृतिक गुणों के प्रभावों एवं उनके अनुरूपी कर्मों द्वारा निर्धारित किया जाता है। हाला कि इस व्यवस्था को मैंने ही बनाया है, यह जानो कि वास्तव में, मैं ना तो कर्ता हूँ ना मैं परिवर्तनीय हूँ।

नमां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥४-१४॥

किसी भी कर्म का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होता, और न ही मैं भौतिक कर्मों के फलों की कामना करता हूँ। जो इस बात को समझता है वह कभी भी कर्म से नहीं बंधता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥४-१५॥

इस बात को जानते हुए, प्राचीन काल में मोक्ष की कामना करनेवाले भी कर्म किया करते थे। इसलिए तुम्हें भी उसी तरह कर्म के पथ का अनुसरण करना चाहिए जिस तरह लोग पहले किया करते थे।

~ अनुवृत्ति ~

दसवे श्लोक में 'भाव' शब्द का प्रयोग करके श्री कृष्ण आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च अवस्था की ओर संकेत दे रहे हैं। भाव प्रगाढ़ अनुराग की एक ऐसी अवस्था है जो परम-पवित्र प्रेम की अवस्था के एक कदम पहले आती है। श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य श्री रूपा गोस्वामी ने इसकी व्याख्या अपने ग्रन्थ भक्ति-रसामृत-सिंधु (१.४.१५-१६) में विस्तारपूर्वक ढंग से की है।

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ॥

दिव्य प्रेम का विकास श्रद्धा से प्रारंभ होता है। श्रद्धा हमे साधु-संग की ओर ले चलती है। साधुओं की संगत में हम शिक्षा प्राप्त करते हैं, अर्थात के ऐसे उपदेश जो हमें यह बताते हैं कि परम-सत्य को कैसे जाना जाए, और क्रमशः हम इस प्रक्रिया को आरंभ करने की दिक्षा प्राप्त करते हैं। इसे भजनक्रिया कहते हैं। जब हमारा हृदय सभी कल्मशों से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है, तब हम अनर्थ-निवृत्ति की अवस्था पर पहुंचते हैं। अनर्थ-निवृत्ति के पश्चात लगातार आध्यात्मिक साधना के अनुशासन से हम निष्ठावान बनते हैं, और वहां से हम रुचि की अवस्था प्राप्त करते हैं, जहां पर हम परम-सत्य की विशुद्ध मधुरता की अनुभूति का आस्वादन करना प्रारंभ करते हैं। इसके आगे, रुचि फिर आसक्ति या परम-सत्य के प्रति अत्यंत लगाव की अवस्था में विकसित होती है। परम-सत्य के प्रती यह अत्यंत लगाव क्रमशः श्री कृष्ण के प्रति गहरे अनुराग की भावनाएं प्रकाशित करता है। इस दशा को भाव कहा जाता है। इस गहरे अनुराग की पूर्ण-विकसित अवस्था को ही प्रेम कहते हैं जब कृष्ण के प्रति दिव्य प्रेम की भावनाएं उमड़ती है।

दिल्चस्प बात यह है कि भगवद्गीता में श्री कृष्ण इस सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि का संकेत बहुत जल्द देते हैं, पूरी तरह प्रत्यक्ष रुप से नहीं, बल्कि थोड़ा गुप्त रूप से - आखिरकार, रहस्यों में प्रेम का रहस्य ही सबसे अधिक गोपनीय होता है।

आगामी श्लोकों में कृष्ण अर्जुन को प्रोत्साहित करते हैं कि वह निष्काम का पथ न अपनाए। श्री कृष्ण अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं कि चूंकि वे स्वयं कर्म की क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्र के परे हैं, इसलिए जो लोग उनका (श्री कृष्ण का) शरण लेते हैं वे भी सांसारिक कर्मों की प्रतिक्रिया से मुक्त हो जाते हैं।

अर्जुन से श्री कृष्ण यह चाहते हैं कि वह पूर्ववर्ती मोक्ष-प्राप्त व्यक्तियों के आदर्श का अनुसरण करे और उनके पदचिह्नों पर चले - महाजनो येन गतः स पन्थाः। प्राचीन काल में ऐसे बहुत से महान व्यक्ति हुआ करते थे जिन्हें महाजन कहा जाता है, और उन सभी महाजनों ने कृष्ण की छत्रछाया में रहकर ही जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त की थी। कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन इन महाजनों का अनुसरण करे।

जीवात्माएं जिस प्रकार श्री कृष्ण की शरण में आते हैं श्री कृष्ण उन्हें तदनुसार ही पुरस्कृत करते हैं। जानते हुए या बिना जाने बूझे सभी श्री कृष्ण को ही खोज रहे हैं। श्री कृष्ण आनन्द के सागर हैं और वे ही सृष्टि के सर्वप्रथम कारण हैं। ब्रह्म-संहिता में श्री कृष्ण को सर्व कारण-कारणम् कहा गया है, अर्थात कि सभी कारणों के मूल कारण। कृष्ण को गोविन्द भी कहते हैं, यानी कि इन्द्रियों को खुश करनेवाले। किंतु शारीरिक पहचान की माया के कारण, जीवात्माएं अपना सर्वोच्च हित नहीं जानते, और इसलिए वे सीधे कृष्ण की शरण में नहीं आते। बल्कि, ये मायाग्रस्त जीव, अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए, या तो देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, या फिर आधुनिक समाज की तरह थोड़े से पैसे कमाने के लिए वे कड़ी मेहनत करते हैं और जो चाहे खरीद लेते हैं।

भौतिक जीवन में जीवात्माएं अपने कर्म के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव करते हुए अलग-अलग जीव-प्रजातियों में जगत नितान्त भ्रमण करते हैं।

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।
गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

> ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते हुए करोडों जीवों में से किसी एक भाग्यवान जीव को श्री कृष्ण की कृपा से गुरु की संगती का अवसर प्राप्त होता है। श्री कृष्ण और गुरु की कृपा से उस व्यक्ति को भक्ति-लता का बीज प्राप्त होता है। (चैतन्य-चरितामृत, मध्य-लीला १९.१५१)

यह संसार अत्यंत ही पुरानी है - जितना हम सोच सके उससे भी बहुत पुरानी है, और युग-युगान्तर के पश्चात यहां पर बहुत कुछ बदल चुका है। फिर भी आध्यात्मिक प्रगती एवं जन्म, मृत्यु, वृद्धाप्य, और रोग की समस्याओं के समाधान का मूलभूत सिद्धांत आज भी वही है। आधूनिक सभ्यता की उन्नती से दरसल जीवन के इन वास्तविक समस्याओं के समाधान खोज निकालने में बहुत कम लाभ हुआ है। तथाकथित उच्च शिक्षा और बेहतर रहन-सहन तो उपलब्ध किए जाते हैं, किंतु मूलभूत समस्याएं जैसे कि जन्म, मृत्यु, बुढापा, और रोग वही की वही रह जाती हैं। अब जब उचित समाधान उपलब्ध है, तो श्री कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन उसको स्वीकार करे।

समाज में सुव्यवस्था, और आध्यात्मिक जीवन में दक्षता एवं प्रगती को सुगम बनाने केलिए श्री कृष्ण ने चार सामाजिक वर्गों की सृष्टि की है जिसे वर्ण कहा जाता हैं। अपने पिछले जन्मों से प्राप्त की गई सुकृति या आध्यात्मिक योग्यता

के अनुसार व्यक्ति मनुष्य जीवन में कुछ अंतर्जात गुण लेकर जन्म लेता है। यही विश्व के अनुशासन की स्वाभाविक व्यवस्था है और सभ्य समाजों में इसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। इन मानवीय वृत्तियों को चार मौलिक विभागों में वर्गीकृत किया जाता है - बौद्धिक, सामरिक, व्यापारिक, और श्रमिक वर्ग। इन वर्गों के अनुरूपि वैदिक पद हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। श्री कृष्ण के अनुसार इन वर्गों को व्यक्ति के गुण और कर्मों से निर्धारित किया जाता है, उनके जन्म से नहीं। कोई मजदूरों के परिवार में जन्म लेकर भी अत्याधिक बौद्धिक क्षमता प्रदर्शित कर सकता है। अतएव उस व्यक्ति का बौद्धिक समुदाय में हार्दिक स्वागत किया जाना चाहिए। उसी प्रकार, कोई एक धनी व्यापारी परिवार में जन्म लेकर भी सामरिक नेतृत्व की वृत्ति दिखा सकता है। अतः यहां पर लोगों को अपने गुणों के अनुसार अपना व्यवसाय चुनने को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

जब कोई व्यक्ति अपने गुणों के अनुसार अपने निर्धारित कार्यों का निर्वाहन करता है तथा उन कार्यों को परम-पुरुष श्री कृष्ण की तृप्ति के लिए उन पर अर्पित कर देता है, तब उस व्यक्ति को परम सिद्धी प्राप्त होती है। अगले श्लोक में इसी बात को बताया गया है -

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

> अतः हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ, निष्कर्श यह है कि श्री कृष्ण की तृप्ती ही वर्ण और आश्रम के अंतर्गत कार्यों के निर्वाहन से प्राप्त होने वाली परम सिद्धी है। (श्रीमद्भागवतम् १.२.१३)

दुर्भाग्यवश, आधुनिक समय में कुछ व्यक्तियों ने मनुष्य के वंश पर ज्यादा जोर देकर वर्णों के निर्धारण प्रक्रिया की गलत व्याख्या दी है। इस मनगढंत विचार का सृजन केवल सामाजिक श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न करने के लिए किया गया है जिसमें वैदिक समाज के ब्राह्मण या क्षत्रिय वंश में जन्मे कुलीन सदस्यों को विशेष असामान्य अधिकार दिये जाते हैं, जब की वैश्य या शूद्र परिवार में जन्मे अन्य लोगों को इनसे वर्जित किया जाता है। जाति प्रथा नामक इस व्यवस्था ने एक हज़ार वर्षों से अधिक समय से भारत में तबाही मचा रखी है। परन्तु यह जाति प्रथा श्री कृष्ण द्वारा लागू किए गए वास्तविक वर्ण व्यवस्था का केवल एक मिथ्या निरूपण है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥४-१६॥

कर्म किसे कहते हैं? अकर्म किसे कहते हैं? - यह विषय बुद्धिमानों को भी उलझन में डाल सकता है। इसलिए, मैं स्वयं तुम्हें समझाता हूँ कि कर्म किसे कहते हैं, जिसे समझकर तुम अशुभ से विमुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥४-१७॥

हमें यह समझना चाहिए कि निर्धारित कर्म क्या है, निषिद्ध कर्म (विकर्म) क्या है, और कर्म का त्याग (अकर्म) किसे कहते हैं। कर्म के पथ को समझना अत्यंत कठिन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणिच कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४-१८॥

जो कर्म में अकर्म को देख सकता है एवं अकर्म में कर्म को देख सकता है वह व्यक्ति मनुष्यों में अवश्य ही बुद्धिमान कहलाता है। सभी तरह के कर्मों को करते हुए भी वह निस्संदेह एक योगी है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४-१९॥

जिसका प्रत्येक कर्म स्वार्थी कामनाओं से मुक्त है और जो अपने सारे कर्मों को ज्ञान की अग्नी में जला दे, विद्वान ऐसे व्यक्ति को बुद्धिमान कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥४-२०॥

ऐसा व्यक्ति जिसने अपने कर्मों के फलों को भोगने की कामना त्याग दी है, जो दूसरों पर निर्भर नहीं होता, और जो सदा तृप्त रहता है, वैसा व्यक्ति कर्म में नियुक्त होते हुए भी दरसल कोई कर्म नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४-२१॥

जो कामना रहित है, मन व शरीर को जो नियंत्रित रखे, जिसमे स्वत्वात्मकता नहीं है, ऐसा व्यक्ति कभी भी किसी कर्म का दोषी नहीं होता, हालांकि वह शरीर के रखरखाव के लिए कर्म अवश्य करता है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥४-२२॥

जो व्यक्ति अपने आप आनेवाले लाभों से सन्तुष्ट है, द्विविधता से परे है, ईर्ष्या रहित है, एवं सफलता और विफलता दोनों में एक समान है, ऐसा व्यक्ति कर्म के बंधन में नहीं बंधता, भले ही वह कर्म कार्य में प्रवृत्त क्यों न हो।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४-२३॥

जो व्यक्ति अनासक्त रहे, मुक्त रहे, ज्ञान में प्रतिष्ठित रहे, एवं केवल समर्पण के भाव से कार्य करे, उस व्यक्ति के सारे कर्मफल विलुप्त हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

हमने पहले ही विविध प्रकार के कर्मों पर चर्चा की है, जैसे कि कर्म (निर्धारित कार्य), विकर्म (निषिद्ध कार्य), और अकर्म (आध्यात्मिक कार्य)। इसके बावजूद कभी कभी इन कर्म के प्रकारों को समझना कठिन है, विशेषकर कर्म में अकर्म को देखना, या अकर्म में कर्म को देखना। सचमुच, यह काफी हद तक परस्पत विरोधी दिखाई देते हैं। आज के समाज में, विशेषकर योग समुदाय में, कर्मशब्द का प्रयोग अक्सर किया जाता है, परन्तु बिना स्पष्ट रुप यह समझे कि कर्म किसे कहते हैं या कैसे हम कर्म से ग्रस्त होते हैं।

श्री कृष्ण यहां पर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो कर्म या विकर्म, उनके (श्री कृष्ण के) तृप्ती के लिए किए जाते हैं उनकी कभी भौतिक प्रतिक्रिया नहीं होती। श्री कृष्ण की तृप्ती के लिए किए गए कर्मों को अकर्म का दर्जा दिया जाता है, जो केवल आध्यात्मिक लाभ प्रदान करते हैं - कोई अच्छे या बुरे भौतिक परिणाम नहीं। अच्छे या बुरे कर्म, दोनों ही भौतिक होते हैं, और इसलिए इन दोनों से छुटकारा पाकर ही हम आध्यात्मिक तौर पर मुक्ति पा सकते हैं।

आमतौर पर हमें पुण्यात्मक कर्म चाहिए, परन्तु पुण्यात्मक कर्म का अर्थ है कि हमें इन पुण्यों के अच्छे परिणामों का उपभोग करने के लिए फिर से जन्म

लेना होगा। अवश्य दुष्कर्म को सामान्यतया बुरा या अवांछनीय समझा जाता है क्योंकि ये दुःख, पीडा और कष्ट-दायक होते हैं। निस्संदेह यह सत्य है, परन्तु दुष्कर्म तो पुण्य-कर्म का ही दूसरा पहलू है और उसी तरह पुण्य कर्म भी दुष्कर्म का ही दूसरा पहलू है। इस संबन्ध को ही सांसारिक जीवन में कर्मों का उलझन कहा जाता है - कभी सुख भोगना और कभी दुःख झेलना।

अकर्म करने से सारे भौतिक उलझनों से मुक्ति प्राप्त होती है और यह व्यक्ति को सर्वज्ञतापूर्ण एक नित्य आनन्दमय स्तर पर पहुंचाता है। योग में प्रवृत्त हुए एक गंभीर व्यक्ति को, अपनी लौकिक इच्छाओं को न्यूनतम बनाकर, अपने मन व शरीर को नियंत्रण में रखकर, और स्वत्वात्मकता को छोड़कर, जितना हो पाए उतना द्विविधता से परे एक सरल जीवन बिताना चाहिए। अपने आप मिलनेवाले लाभों से तृप्त रहकर, व्यक्ति को योग की साधना में दृढ़ रहना चाहिए।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४-२४॥

यज्ञ में उपयोग किए जानेवाले सामग्रियां परम-तत्त्व हैं, यज्ञ की पवित्र अग्नी परम-तत्त्व है एवं यज्ञ में अर्पण किए गए पदार्थ भी परम-तत्त्व है। जिसका मन सदैव परम-तत्त्व के विचार में निमग्न रहता है उसे परम-तत्त्व प्राप्त होता है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥४-२५॥

कुछ योगी देवी-देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं, तो कुछ परम-तत्त्व की आनी में स्वयं की आहूति देते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥४-२६॥

कुछ योगी श्रवण, दृष्टि, स्पर्शन, महक, और आस्वादन के इन्द्रियों को आत्मसंयम की अग्नी में आहूति देते हैं, तो कुछ, विषय वस्तुओं को, जैसे कि ध्वनि, रूप, स्वाद, स्पर्श और गंध को इन्द्रियों के अग्नी में आहूति देते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥४-२७॥

कुछ योगी इन्द्रियों एवं प्राण-वायुओं के सारे प्रकार्यों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम की अग्नी में आहूति देते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥४-२८॥

कुछ योगी अपनी संपत्ति की आहूति तपस में या योग की साधना में देते हैं, तो अन्य, कठोर व्रत स्वीकार करके, वेदों के अध्ययन द्वारा, पूरी तरह ज्ञान के माध्यम से स्वयं को समर्पित करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥४-२९॥

कुछ योगी अन्त:श्वसन की आहूति नि:श्वसन में देकर अपने प्राण-वायुओं को नियंत्रित करते हैं, और इस प्रकार वे दोनो श्वासों का निग्रह करते हैं। तो कुछ अन्य योगी अपने प्राण-वायुओं की आहूति अपने आहार के नियंत्रिण में देते हैं।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥४-३०॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥४-३१॥

ये सभी योगी यज्ञ के सिद्धांतों से सुपरिचित हैं। यज्ञ कार्यों द्वारा इन्होंने अपने आप को कल्मष-रहित बना दिया है। मात्र यज्ञ के अवशिष्टों को स्वीकार करके वे तृप्त रहते हैं और इस तरह वे सनातन परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ, जो व्यक्ति कभी यज्ञ नहीं करता, उसे अगले जन्म में तो क्या इस जन्म में भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं होता।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥४-३२॥

इस तरह अनेक विभिन्न प्रकार के यज्ञों को वेदों में समझाया गया है। तुम्हें यह समझना चाहिए कि सभी प्रकार के यज्ञ कर्म से ही जन्म लेते हैं, और इस बात को जानकर तुम विमुक्त हो जाओगे।

~ अनुवृत्ति ~

उपर लिखित श्लोक मुख्य तौर पर यज्ञ एवं यज्ञ के विभिन्न प्रकारों पर चर्चा करते हैं। परन्तु, यह पहले ही बता देना उचित होगा कि श्री कृष्ण पशुओं के बलिदान की संस्तुति कभी नहीं करते। अंग्रेजी में 'बलिदान' शब्द् तुरंत मन में रक्तपात के झलक दिखलाता है - और यह ठीक ही तो है। आखिर धार्मिक इतिहास में, प्राचीन समय से लेकर आधूनिक समय तक, विश्वभर में पशुओं एवं मनुष्यों का बलिदान एक सामान्य प्रथा हुआ करती थी। परन्तु आज, सबसे प्रोग्रेसीव या प्रगतिवादी विचारक मनुष्यों और पशुओं के बलिदान को बिल्कुल ही घिनौना समझते हैं और निस्संदेह श्री कृष्ण भी इस सोच का पूरी तरह से समर्थन करते हैं।

श्री कृष्ण द्वारा यहां पर बताए गए यज्ञ, मुख्य तौर पर तपस्या, प्राणायाम, वेदपाठ, ज्ञान परिशोधन, वैराग्य, व्रत आदि के कार्य हैं। इन यज्ञों का उद्देश्य केवल परम-सत्य के साक्षात्कार के पथ पर प्रगति करना है।

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि, "ईश्वर एक है", या, "सबकुछ एक है"। हालांकि यह बात सच है, फिर भी ऐसे बयानों को उचित ढंग से परिभाषित करना आवश्यक होता है। भगवान् परम-सत्य हैं, अद्वितीय हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी जीवात्माएं भी भगवान् हैं। इस विषय पर भगवद्गीता में बिलकुल स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सभी जीवात्माओं के सदैव पृथक व्यक्तित्व होते हैं और वे किसी भी समय भगवान् नहीं बनते। उसी प्रकार, भगवान् निरंतर परम-सत्य ही रहते हैं, ओर कभी भी इससे कम नहीं होते।

चौबीसवे श्लोक में कहा गया है कि यज्ञ के सामग्री परब्रह्म हैं, पवित्र अग्नि परब्रह्म है, होतृ (पुरोहित) या यज्ञ कर्ता भी परब्रह्म है, और जो व्यक्ति सदैव परब्रह्म के चिन्तन में निमग्न रहता है वह परम-सत्य को प्राप्त कर लेता है। इस बात का अर्थ यह नहीं कि ये सब अपना व्यक्तित्व परब्रह्म में खो बैठते हैं। परम-सत्य के संपर्क में जो कोई भी आए, संगत के असर से परम-सत्य के लक्षण उसे प्राप्त हो जाते हैं, फिर भी उसका पृथक व्यक्तित्व सदैव कायम रहता है।

यहां पर ऐसा भी कहा गया है कि व्यावहारिक तौर पर जीवन में सब कुछ, लौकिक सुख की प्राप्ति भी, त्याग पर निर्भर होती हैं। त्याग किए बिना कोई भी वर्तमान के या अगले जन्म के जीवनकाल में सुखी नहीं हो सकता। योग के

साधकों के लिए यज्ञ (समर्पण) का ज्ञान अनिवार्य है। इस बात को जानकर व्यक्ति विमुक्त हो जाता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४-३३॥

हे शत्रुविजयी, ज्ञान से जुड़ा हुआ यज्ञ, भौतिक द्रव्यों के यज्ञ से ऊँचा होता है। हे पार्थ, ज्ञान में ही समस्त कर्मों का पूरी तरह से समापन होता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥४-३४॥

अब एक ऐसे आत्मवित व्यक्ति के पास जाकर इस ज्ञान को समझने का प्रयास करो, जिन्होंने परम-सत्य के दर्शन किए हैं। नम्रता से उनसे प्रश्न पुछो, और उनकी सेवा करो। वे तत्त्वदर्शी संत तुम्हें ज्ञान देंगे और इस पावन पथ का अनुसरण करने के लिए तुम्हे दीक्षा प्रदान करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥४-३५॥

हे पाण्डुपुत्र, इस ज्ञान को समझकर तुम कभी भी मोहित नहीं होगे। इस ज्ञान के माध्यम से तुम सभी प्राणियों का आध्यात्मिक स्वभाव जान पाओगे और सभी को मुझमें ही स्थित देखोगे।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥४-३६॥

भले ही तुम महापापी ही क्यों न हो, ज्ञान (विवेक) के नाव पर सवार होकर तुम इस व्यसनों के सागर को पार कर सकोगे।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥४-३७॥

हे अर्जुन, जिस प्रकार एक धधकती अग्नि काठ को जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान की अग्नी सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४-३८॥

समस्त विश्व में ज्ञान से अधिक पवित्र और कुछ नहीं। यथाक्रम, उचित समय पर, योग में संपन्न व्यक्ति अपने आप इस बात को समझ जाता है।
अनुवृत्ति

भगवद्गीता के उन्नत विद्यार्थी और पण्डितों की समज के अनुसार, ३४ वे श्लोक में श्री कृष्ण का उपदेश यह है कि परम-सत्य को समझने के लिए एक तत्त्वदर्शी, जिन्होंने सत्य को देखा है, उनके पास विनम्रतापूर्वक जाकर उचित प्रश्न करने चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए। इस तरह हमारे परिप्रश्न और सेवा से प्रसन्न होकर, तत्त्वदर्शी अभ्यर्थी को योग के पावन विज्ञान पर उपदेश एवं दीक्षा प्रदान करेंगे। दूसरे शब्दों में, श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि सत्य को जानने के लिए एक गुरू के पास जाना चाहिए और उनका शिष्य बनना चाहिए।

गुरु पादाश्रयस्तस्मात् कृष्ण दीक्षादिशिक्षणम् ।
विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवानुवर्तनम् ॥

> पहले तो अभ्यर्थि को गुरु की चरणों में स्वयं को समर्पण करना चाहिए, फिर उनसे आध्यात्मिक दीक्षा एवं श्री कृष्ण के विषय पर उपदेश प्राप्त करके उनसे प्रशिक्षण लेनी चाहिए, उनकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिए और साधुओं के पदचिह्नों पर उनका अनुसरण करना चाहिए। (भक्ति-रसामृत-सिंधु १.२.७४)

गुरु या आचार्य को श्री कृष्ण का प्रतिनिधि मानकर उनकी आज्ञा को सावधानी से पालन करना चाहिए। एक सच्चे गुरु श्री कृष्ण (परमात्मा) के ही प्रतिनिधि होते हैं, और वे दो प्रकार के होते हैं - दीक्षा गुरु और शिक्षा गुरु। दीक्षा गुरु दीक्षा प्रदान करते हैं और शिष्य को अपनी परम्परा का सदस्य बनाते हैं। इस तरह की दीक्षा गुप्त रूप में नहीं बल्कि सार्वजनिक रूप में की जाती है, हालांकि दीक्षा के अनुष्ठान पर ध्यान एवं चिंतन के लिए शिष्य को महामन्त्र और गुप्त रूप से गायत्री मन्त्र दिये जाते हैं। शिक्षा-गुरु वे हैं जो शिष्य को क्रमिक तौर पर आत्म-साक्षात्कार में प्रगति के लिए अभ्यास-संबंधी उपदेश प्रदान करते हैं। दीक्षा और शिक्षा गुरु के प्रकार्य वही गुरु, या पृथक गुरु कर सकते हैं, किंतु किसी भी सूरत में दोनो दीक्षा एवं शिक्षा गुरु को, श्री कृष्ण का प्रतिनिधि होना आवश्यक है। इस तरह, गुरु को श्री कृष्ण के समान ही समझना चाहिए और

उनका पूर्णरूप से आदर-सम्मान करना चाहिए। श्री कृष्ण इस बात की पुष्टि श्रीमद्भागवतम् में इस प्रकार करते हैं -

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मार्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेव मयो गुरुः ॥

यह जानो कि आचार्य (गुरु) और मुझमें कोई अंतर नहीं है और कभी उनका अपमान नहीं करना चाहिए। उनको सामान्य समझकर कभी उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे समस्त देवों के प्रतिनिधि हैं। (श्रीमद्भागवतम् ११.१७.२७)

इसे गुरु-शिष्य का संबंध कहा जाता है जो पुरातन काल से मान्यताप्राप्त है। परन्तु, प्रश्न यह उठता है कि गुरु कौन हैं? गुरु की योग्यताएं क्या होनी चाहिए? यह बात तो स्पष्ट है कि एक शिष्य में सत्य जानने की आतुरता होनी चाहिए और साथ ही साथ उसे विनम्रतापूर्वक गुरु से उचित प्रश्न पूछने चाहिए एवं उनकी सेवा करनी चाहिए। किंतु एक गुरु से हमें क्या अपेक्षा करनी चाहिए - उनकी योग्यताएं क्या होनी चाहिए?

भगवद्गीता में कहा गया है कि गुरु को तत्त्वदर्शी होना चाहिए, यानि कि जिन्होंने सत्य को देखा है, एवं उन्हें कृष्ण-प्रज्ञा के विज्ञान की जानकारी भी होनी चाहिए। यह बात पूर्व-निर्धारित करता है कि एक गुरु भी अपने पूर्ववर्ती गुरु के शिष्य हैं। इस पद्धति को गुरु-परम्परा कहते हैं। भगवद्गीता परम-सत्य के ज्ञान में प्रवेश पाने के एवं सत्य को पहचानने के मापदंड निर्धारित करता है। श्री कृष्ण भगवद्गीता के मुख्य वक्ता हैं, अत: एक गुरु को आवश्यक रूप से श्री कृष्ण की ही परम्परा में होना चाहिए।

एक गुरु की प्रथम योग्यता यह है कि उन्हें एक प्राधिकृत सम्प्रदाय (परम्परा) में होना चाहिए और उन्हें अपने शिष्यों को भगवद्गीता के सिद्धांतों की शिक्षा देनी चाहिए। कुल चार सम्प्रदाय हैं, और हमें भगवद्गीता का सैद्धांतिक ज्ञान इनमें से किसी एक का सदस्य बनकर प्राप्त करना चाहिए। श्री बलदेव विद्याभूषण ने इन चार परम्पराओं का उल्लेख अपने ग्रन्थ प्रमेय-रत्नावली में किया है -

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः ।
अत: कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः ॥

श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनका: वैष्णवा: क्षिति-पावनाः ।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात् ॥

रामानुजं श्री: स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः ।
श्री विष्णु-स्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतु:सनः ॥

जो मन्त्र परम्परागत रूप से प्राप्त न हुआ हो, वह मन्त्र कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता। अत: कलियुग में चार सम्प्रदाय (परम्पराएं) हैं। वे हैं श्री, ब्रह्मा, रुद्र, और सनक (कुमार) सम्प्रदाय। श्री रामानुजाचार्य श्री-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, श्री मध्वाचार्य ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य हैं, श्री विष्णुस्वामी रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य हैं, और श्री निम्बादित्य सनक सम्प्रदाय के आचार्य हैं। (प्रमेय-रत्नावली १.५-७)

वेदों का निष्कर्ष है कि श्री कृष्ण ही परम-सत्य हैं, और सभी जीवात्माएं उनके अव्यवभूत अंश हैं। कठोपनिषद् में यह उल्लेख है -

नित्योऽनित्यानां चेतनस्चेतनानाम् ।
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥

वे (परमपुरुष) नित्यों में नित्य हैं। वे चेतनाओं में चेतना हैं, और वे अकेले ही समस्त जीवों के पालनहार हैं। (कठोपनिषद् २.२.१३)

इसके बावजूद, अनैतिक व्यक्ति भगवद्गीता में कहे गए श्री कृष्ण के शब्दों का एक व्यापार बना देते हैं और श्री कृष्ण को परमपुरुष घोषित करने के बजाय स्वयं को ही कृष्ण या उनका अवतार कहकर प्रस्तुत करते हैं। ऐसे तथाकथिक गुरु वास्तव में गुरु नहीं बल्कि धोकेबाज़ होते हैं। इस विचार को शिव जी नें पद्म-पुराण में बताया है -

गुरवो बहवः सन्ति शिष्य-वित्तापहारकाः ।
दुर्लभ: सद्गुरुर्देवी शिष्य-सन्तापहारकः ॥

ऐसे बहुत से गुरु हैं जो अपने शिष्यों की संपत्ति ऐंठ जाते हैं, किंतु एक ऐसे सद्-गुरु को प्राप्त करना बहुत विरल है जो अपने शिष्य के अज्ञान को एवं उसके दुख को दूर कर सके।

धोकेबाज़ अपने आध्यात्मिक उन्नति के बड़े ढिंडोरे पीटते हैं, परन्तु वास्तव में वे आध्यात्मिक रूप से कंगाल होते हैं। केवल श्री कृष्ण का सच्चा प्रतिनिधि ही भगवद्गीता का गुरु बन सकते है। यही सभी तत्त्वदर्शियों का निष्कर्ष है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्या परांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४-३९॥

जो श्रद्धावान हैं और अपने इन्द्रियों को संयमित रखने में तत्पर हैं, वे इस ज्ञान को तुरंत समझ जाते हैं, और इस तरह वे परम शांति प्राप्त करते हैं।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४-४०॥

जो अज्ञानि हैं, श्रद्धाहीन हैं और संशयपूर्ण हैं, उनका विनाश निश्चित है। ऐसे श्रद्धाहीन लोग, इस जन्म में तो क्या, अगले जन्म में भी सुख प्राप्त नहीं कर सकते।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबजन्ति धनञ्जय ॥४-४१॥

हे धनंजय, जिसने योग की प्रक्रिया से कर्म कार्य का त्याग किया है, उसे कर्म का बन्धन नहीं होता। ज्ञान के माध्यम से उसकी शंकाएं दूर हो चुकी होती हैं, और इस प्रकार उसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४-४२॥

अत:, हे भारत, ज्ञान की तलवार से, अपने हृदयस्थित अज्ञान से उत्पन्न हुए इन संशयों को काटो। योग की प्रक्रिया का आश्रय लेकर उठो और युद्ध करो!

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए ज्ञान योग नामक चौथे अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ५

कर्म संन्यास योग

अर्जुन उवाच ।
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥५-१॥

अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण, आप कर्म के त्याग (संन्यास) की बात करते हैं, पर साथ ही साथ कर्मयोग (नि:स्वार्थ कर्म) की बात भी करते हैं। कृपया मुझे स्पष्ट रूप बताएं कि इन दोनों में से कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है?

श्रीभगवानुवाच ।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥५-२॥

भगवान् श्री कृष्ण ने उत्तर में कहा - कर्म का त्याग (संन्यास) और नि:स्वार्थ कर्म (कर्मयोग) दोनों ही परम लाभदायक हैं। किन्तु, इन दोनों में से, नि:स्वार्थ कर्म का मार्ग कर्म के त्याग के मार्ग से श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥५-३॥

हे महाबाहु, यह समझो कि जो व्यक्ति द्वेष और भौतिक कामनाओं से मुक्त है वह ही सच्चा संन्यासी है। वह द्वन्द्व से परे है और आसानी से वह भौतिक बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥५-४॥

केवल अनुभवहीन और नासमझ लोग ही संन्यास और कर्मयोग को भिन्न भिन्न कहेंगे। किन्तु, वास्तव में, इन दोनों में से किसी भी पथ का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति दोनों के परिणाम को प्राप्त करता है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५-५॥

जो स्थिति संन्यास से प्राप्त होता है वह ही स्थिति कर्मयोग से भी प्राप्त होता है। जो व्यक्ति इन दोनों विधियों को समान रूप से देखता है वह ही सत्य को स्पष्ट रूप से देखता है।

~ अनुवृत्ति ~

वैदिक प्रणाली में जीवन के चार आध्यात्मिक वर्गों की संस्तुति की गई है, ये हैं ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहते हैं। पारिवारिक ईकाइयों को ग्रहस्थाश्रम में वर्गीकृत किया गया है, समाज के निवृत बुजुर्गों को वानप्रस्थाश्रम में वर्गीकृत किया गया है, और संन्यासी वे होते हैं जो संपूर्ण रूपसे त्यागी होते हैं, जो त्याग, तपस्या और ज्ञान की साधना में अपना जीवन बिताते हैं। समाज के सभी आध्यात्मिक और सामाजिक वर्गों में संन्यासियों को प्रधान माना जाता है।

वैदिक पण्डितों में कभी कभी यह विवाद उठता है कि संन्यासयोग (कर्म का पूर्ण त्याग) और कर्मयोग (नि:स्वार्थ कर्म) में से कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि संन्यास-योग और कर्मयोग दोनों ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए लाभदायक हैं। दोनों मार्गों से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है, किन्तु इन दोनों में से कर्मयोग बेहतर है। कुछ पण्डितों के लिए यह विषय विवादात्मक है क्योंकि उनकी समझ के अनुसार, समाज के भाग्यहीण, गरीब और भूखे लोगों के हित के लिए किए जाने वाले परोपकारी कार्य को ही कर्मयोग कहते हैं। इस तरह के परोपकारी कार्य अवश्य कल्याणकारी हैं, किन्तु हमें यह समझना चाहिए कि जब श्री कृष्ण भगवद्गीता में कर्मयोग की बात करते हैं तो वे विशेष तौर पर उन कार्यों का संकेत दे रहे हैं जो उनकी (श्री कृष्ण की) तृप्ति और आनन्द के लिए किए जाते हैं। इस प्रकार के कार्यों को कर्मयोग या भक्तियोग कहा जाता है क्योंकि इन कर्मों के फलों को श्री कृष्ण को अर्पित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, परोपकारी कार्यों को केवल "पुण्य-कर्म" कहा जा सकता है किन्तु "कर्मयोग" नहीं, जब तक उन्हें श्री कृष्ण के आनन्द के लिए अर्पित नहीं किया जाता है।

जब कर्मयोग को भक्तियोग कहकर स्थापित किया जाता है तब संन्यास-योग पर उसकी श्रेष्ठता तुरंत साफ-जाहिर होने लगती है। संन्यास-योग को निभाना अत्यंत ही कठिन है। व्यक्ति बलपूर्वक अपने इन्द्रियों को वश में रखता है, और छोटे से छोटे सुविधाओं का भी त्याग करता है, जैसे कि स्नान के लिए गरम पानी का उपयोग, आरामदायक सोने की जगह इत्यादि। व्यक्ति को जंगल मे रहना पड़ता है, नियमित रूप से उपवास करना पड़ता है, और यौन-संयम जैसी तपस्याएं उसे स्वीकार करना पड़ता है। अधिकांश लोगों के लिए अगर यह असंभव नहीं तो कम से कम अत्यंत कठिन अवश्य ही है।

दूसरी ओर, कर्मयोग (भक्तियोग) को कोई भी अपना सकता है चाहे वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो, और यह व्यक्ति जीवन के परम लक्ष्य की ओर तुरंत अग्रसर हो जाता है। कर्मयोग में व्यक्ति भक्तिकार्य में नियुक्त रहता है और बुनियादी नियमों का पालन करता है जैसे कि नशा न करना, अवैध योन संबंध से मुक्त रहना, जुआ न खेलना, और मास, मच्छी एवं अण्डे का सेवन न करना। इस प्रकार के नियमों को कोई भी आसानी से पालन कर सकता है। इसी प्रकार, श्री कृष्ण की श्री मूर्ति की अराधना के साथ साथ, महामन्त्र (हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे) जपने की भक्ति प्रक्रिया को भी आसानी से अपनाया जा सकता है। कलियुग में श्री कृष्ण की आराधना करने के लिए मन्त्र जाप ही अनुशंसित प्रक्रिया है। इसलिए भगवद्गीता में कर्मयोग को ही प्रथम प्राथमिकता दी गई है।

परन्तु, जब संन्यास-योग का कर्मयोग के साथ जोड़ा जाता है एवं जब एक संन्यासी श्री कृष्ण की इच्छानुसार, हर तरह के यज्ञ एवं तपस्या का निष्पादन करता है, और भगवद्गीता का ज्ञान दूसरों को प्रदान करता है, तब ऐसा संन्यासी परम सिद्धी को प्राप्त करता है, और सहजता से दोनों ही मार्गों का गुरु मान लिया जाता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५-६॥

हे महाबाहु, कर्मयोग के बिना संन्यास दु:ख का कारण बनता है। परन्तु, एक बुद्धिमान व्यक्ति जो कर्मयोग को अपनाता है वह शीघ्र ही परम-सत्य को प्राप्त कर लेता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥५-७॥

जो विशुद्ध आत्मा है वह कर्मयोग में प्रवृत रहता है एवं अपने मन व इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है। कर्म में प्रवृत रहकर भी वह कभी इससे दूषित नहीं होता और सभी जीवों के प्रति वह स्नेहभाव रखता है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥५-८॥
प्रलपन्विसृजनगृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥५-९॥

जो सत्य को जानता है, वह भले ही दर्शन, श्रवण, सूंघने, खाने, चलने, शयन, श्वसन, बोलने, मलोत्सर्ग, वस्तु ग्रहण करने एवं पलखें झपकाने में भले ही सक्रीय रहे, वह यह स्पष्ट रूप से समझता है कि उसकी इन्द्रियां अपने अपने विषय-वस्तुओं में कार्यरत है। अत: वह यह समझता है कि, "मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ"।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥५-१०॥

जो व्यक्ति सारे बन्धनों को त्याग देता है और अपने सारे कर्मों को परम-पुरुष को अर्पित करता है, वह व्यक्ति कभी भी अधार्मिकता से दूषित नहीं होता है, उसी तरह जैसे कि एक कमल का पत्ता सदैव जल से अनछुआ रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥५-११॥

एक कर्मयोगी अपने सारे बन्धनों का त्याग करके, शरीर, मन, बुद्धी, एवं इन्द्रियों के माध्यम से केवल आत्म-शुद्धी के लिए कर्म करता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥५-१२॥

अपने कर्मों के फलों का त्याग करके एक कर्मयोगी शाश्वत शांति को प्राप्त करता है। किंतु, एक स्वार्थी कर्मी को अपने कर्म के फल में आसक्ति होता है, अत: वह उन फलों की कामना करता है और इस प्रकार वह कर्मफल के बन्धन में बंध जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥५-१३॥

अपने इन्द्रियों को वश में रखनेवाला व्यक्ति, अपने मन से सभी कर्मों का त्याग कर एवं स्वयं बिना कोई कर्म किए और न दूसरों को कर्म करने के बिना प्रेरित किए, अपने भौतिक शरीर में सुखी रह सकता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५-१४॥

परमेश्वर किसी के लिए ना तो कर्म का, न कर्मों के फलों का, ना ही उसके स्वामित्व की भावना का सृजन करते हैं। ये सभी प्रकृति के गुणों (सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण) द्वारा अधिनियमित होते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥५-१५॥

परमेश्वर किसी के पुण्य या पाप का ग्रहण नहीं करते। जीवात्माएं अज्ञान से आच्छादित होने के कारण भटके हुए हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५-१६॥

किंतु आत्मज्ञान द्वारा जिन व्यक्तियों के अज्ञान का नाश हो गया है, उनका ज्ञान उन्हें सूर्योदय की भांति परम सत्य के दर्शन प्रकाशित करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥५-१७॥

ज्ञान के माध्यम से जिन व्यक्तियों का अज्ञान मिट चुका है, जिनकी बुद्धि परमेश्वर में निमग्न रहती है, जो सदा परमेश्वर का चिंतन करते हैं, जो केवल परमेश्वर में निष्ठा रखते हैं, और जो परमेश्वर के गुण गाते हैं, उनका कभी पुनर्जन्म नहीं होता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥६-१८॥

बुद्धिमान व्यक्ति, एक विद्यावान व विनम्र ब्राह्मण को, गाय को, हाथी को, श्वान को, चंडाल को, और सभी अन्य जीव-जन्तुओं को समान दृष्टी से देखता है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५-१९॥

इस भौतिक संसार में रहते हुए भी, उन व्यक्तियों ने जन्म और मृत्यु के चक्र को पार कर लिया है जिनका मन परम-सत्य के ध्यान में प्रतिष्ठित रहता है।

दोषरहित और दिव्य समभाव से शोभित, वे सदैव परम-सत्य के चिंतन में स्थित रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥५-२०॥

स्थिर बुद्धि, अज्ञान रहित, परम-सत्य के जानकार व परम-सत्य में ही स्थित व्यक्ति न वांछित वस्तुओं की प्राप्ति से कभी प्रसन्न होते हैं, न ही अवांछित वस्तुओं की प्राप्ति से वे कभी दु:खी होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

श्लोक १५ में 'विभु' शब्द का अनुवाद परमेश्वर बताया गया है। यथाशब्द 'विभु' का अर्थ है 'सर्वव्यापी' और यह परमेश्वर श्री कृष्ण को ही दर्शाता है। जब चेतना सर्वव्यापी है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि वह सर्वज्ञ भी है। सर्वव्यापी और सर्वज्ञ शब्द श्री कृष्ण को ही दर्शाते हैं। किंतु अर्जुन और उनके समकक्ष अन्य जीवात्माओं को 'अणु' या सीमित माना जाता है। परम-सत्य श्री कृष्ण अनंत हैं, जबकी जीवात्माएं सीमित हैं।

कभी कभी लोग यह सोचते हैं कि भगवान् किसी तरह से इस संसार के पापों को अपने सर पर लिए मृत्यु को स्वीकार करते हैं। इस विचार में ना तो कोई समझदारी है और न ही भगवद्गीता में पाए जानेवाले आध्यात्मिक विज्ञान से इसका कोई रिश्ता है। श्री कृष्ण कहते हैं कि न ही वे किसी को पुण्य या पाप कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं और ना ही वे किसी के कर्म के फल को स्वीकार करते हैं। भगवान् हमारे पापों का प्रायश्चित करने के लिए स्वयं मृत्यु को स्वीकार करते हैं, इस विचार को यहां पर रद्द किया गया है। भगवान् नित्य हैं, वह अजर, अमर एवं अविनाशी हैं अत: वे मृत्यु से परे हैं। जीवात्माएं भी नित्य होते हैं, परन्तु चूंकि वे जीवन की एक शारीरिक अवधारणा के अंतर्गत हैं, इसलिए जब शरीर की मृत्यु होती है तब वे भी मृत्यु का अनुभव करते हैं - हालांकि वे वास्तव में कभी नहीं मरते। परम-सत्य और उनके अवयवभूत अंश दोनों ही नित्य हैं और मृत्यु के परे हैं।

श्लोक १८ में दिव्य ज्ञान में स्थित व्यक्ति के समता की सापेक्ष दृष्टि को व्यक्त किया गया है। एक बुद्धिमान एवं ज्ञानी व्यक्ति नित्य चेतना के ईकाइयों के रूप में सभी

जीवजन्तुओं को समान दृष्टि से देखता है। जीवात्माओं के शारीरिक संरचनाओं में अंतर केवल बाहरी अंतर है। बृहद्-विष्णु पुराण के अनुसार, जीवराशियों के ८,४००,००० अलग अलग भौतिक शरीर अस्तित्व में है -

जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः ।
कृमयो रुद्रसङ्ख्यकाः पक्षिनां दशलक्षकम् ।
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानुषाः ॥

श्रृष्टि में ९,००,००० तरह के जलीय प्रजातियां और २०,००,००० तरह की स्थावर प्रजातियां, यानि के पेढ़-पौधे हैं। ११,००,००० तरह के कीट एवं रेंगनेवाले जन्तु और १०,००,००० तरह के पक्षी हैं। ३०,००,००० तरह के चौपाया पशु और ४,००,००० तरह की मनुष्य प्रजातियां हैं।

चेतना की पृथक ईकाईयां यानि की आत्मा, एक से दूसरे प्रजाति में जन्म लेकर इन विविध प्रकार की प्रजातियों में देहान्तर करती रहती है और अंत में मनुष्य जाती तक पहुंचती है। इस प्रक्रिया को देहांतरण या पुनर्जन्म कहते हैं। यह प्रक्रिया डार्विन की क्रमिक विकासवाद या "Theory of Evolution" के समान है, किंतु स्पष्ट तौर पे यह उससे भीन्न भी है। वैदिक धारणा के अनुसार जीवन की प्रजातियां, एक प्रजाति से दूसरे प्रजाति में विकसित नहीं होती है, बल्कि यहां पर आत्मा की चित्त के एक प्रजाति से दूसरे प्रजाति में देहांतरण से विकास होता है। मनुष्य रूप में योग के माध्यम से आत्मसिद्धी प्राप्त होती है।

इसलिए, एक बुद्धिमान व्यक्ति शारीरिक भिन्नता के आधार पर भेदभाव नहीं करता। एक बुद्धिमान व्यक्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं, बल्कि सभी जीवजन्तुओं में आत्मा को देखता है।

बाह्यस्पर्शेष्यसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥५-२१॥

जिनका मन बाहरी सुखों से अनासक्त है वह अंतरात्मा के सुख का अनुभव करते हैं। स्वयं को परम-तत्त्व से युक्त होकर वे असीम आनंद की प्राप्ती करते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥५-२२॥

विषय वस्तुओं के संपर्क से जो सुख उत्पन्न होता है वह केवल दु:ख का कारण बनता है। इस तरह के सुख का प्रारंभ और अंत दोनों ही होता है। इसलिए, हे कुन्तिपुत्र, एक बुद्धिमान व्यक्ति इन्द्रिय और उनके संबंधी विषय वस्तुओं में कोई आनंद प्राप्त नहीं करता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगंस युक्तः स सुखी नरः ॥५-२३॥

अपने वर्तमान के शरीर का त्याग करने से पहले जब कोई अपने इन्द्रियों को एवं काम व क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वृत्तियों को वश में करता है तब वह आत्म-संतुष्टी को प्राप्त करता है। और ऐसा व्यक्ति ही सच्चा योगी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥५-२४॥

जो व्यक्ति अपने अन्तरात्मा में आनन्द पाता है, जो प्रबुद्ध है, वही पूर्ण रुप से योगी है। वह मोक्ष (ब्रह्म-निर्वाण) द्वारा दिव्य पद को प्राप्त करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥५-२५॥

वे योगी जो व्यसनों से मुक्त हैं, आत्म-संयमी हैं, जिनके सभी संशय दूर हो चुके हैं, एवं जो समस्त जीव-जन्तुओं के हित के लिए कार्य करते हैं, वे ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥५-२६॥

जो संन्यासी निरंतर सिद्धी के लिए प्रयास करते हैं, जिन्होनें अपने मन को नियंत्रित कर लिया है, जो आत्मवित हैं, एवं जो काम व क्रोध से मुक्त हैं, वे शीघ्र ही ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥५-२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥५-२८॥

जो योगी बाहरी इन्द्रियों की गतिविधियों को बंद करके अपने भौहों के मध्य अपना ध्यान केन्द्रित करे, अपने नाक से बहनेवाले आवक और जावक श्वासों को संतुलित करके अपने इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को नियंत्रित करे, वह योगी मोक्ष की प्राप्ति के लिए निष्ठावान है। वह कभी भी काम, भय एवं क्रोध से उत्पन्न होनेवाले मनोरथों से बाध्य नहीं होते हैं और वे अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मांशान्तिमृच्छति ॥५-२९॥

केवल मुझे ही यज्ञों व तपस्याओं का मूल भोक्ता, सारे ग्रहों का परम नियंत्रक, और सभी जीवों का हितैषी एवं मित्र जानकर व्यक्ति शांति प्राप्त कर सकता है।

~ अनुवृत्ति ~

इस अध्याय के अंतिम श्लोक में श्री कृष्ण यह घोषित करते हैं कि वे – भोक्तारं यज्ञतपसां - हैं अर्थात वे स्वयं ही सभी यज्ञ एवं तपस्याओं के परम भोकता हैं। उसके बाद श्री कृष्ण यह कहते हैं कि वे - सर्व-लोक-महेश्वरं - हैं अर्थात वे सारे ग्रहों के नियंत्रक हैं।

कुछ आधुनिक योग प्रणालियां यह सलाह देते हैं कि हमे यह सोच कर ध्यान करना चाहिए कि हम से ही ग्रहों का नियंत्रण व चलन हो रहा है। यह पूरी तरह बकवास है। जब कोई अपने आसपास के हालात को ही संभाल नहीं सकता है, तो वह ग्रहों का नियंत्रण या चलन कैसे कर सकता है? इसे ध्यान नहीं कहते - यह तो अपने आप को धोका देने के समान है।

अंत में श्री कृष्ण कहते हैं कि वे - सुहृदं-सर्व-भूतानां - हैं अर्थात वे सभी जीवों के वास्तविक मित्र हैं। मानव सभ्यता में अब तक की सभी ज्ञात परम-सत्य की अवधारणाओं में से श्री कृष्ण की अवधारणा ही सबसे व्यापक, सबसे संपूर्ण, सबसे गहरी, एवं सबसे ठोस अवधारणा है। जीवन के मूलस्त्रोत की ऐसी बहुत सी अवधारणाएं हैं जो कहते हैं कि वे सबसे शक्तिशाली सृष्टिकर्ता एवं विश्व के नियंत्रक हैं, किंतु केवल श्री कृष्ण की अवधारणा ही परम-सत्य की ऐसी अवधारणा है जहां पर भगवान् को अपना सबसे प्रिय मित्र समझकर उनसे प्रेम संबंध का रिश्ता जोड़ा जाता है। यह विशेषता केवल श्री कृष्ण की अवधारणा

में ही पाया जाता है, अतएव इस अवधारणा को सर्वोच्च आध्यात्मविद्या, या योग की विधी समझा जाता है।

श्री कृष्ण कहते हैं - ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति - इस बात को जानकर व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है। संसार में यदि कोई ऐसी वस्तु है जो दुष्प्राप्य है, तो वह अवश्य ही 'शान्ति' है। शान्ति के विषय पर हर जगह चर्चा तो होती है परन्तु उसे प्राप्त करना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत ही दुष्कर है। भगवद्गीता में शांति प्राप्त करने की कुञ्जी दी गई है।धनवान या प्रसिद्धहोने से, या संसार से बचाए जाने से (by being saved), या जन्म-मृत्यु से मुक्ती पाने से भी शान्ति प्राप्त नहीं होती - वास्तविक शान्ति केवल यह जानकर प्राप्त होती है कि श्री कृष्ण हमारे सबसे प्रिय मित्र हैं। यही भगवद्गीता का संदेश है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए कर्म-संन्यास योग नामक पांचवे अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ६

ध्यान योग

श्रीभगवानुवाच।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगीच न निरग्निर्नचाक्रियः ॥६-१॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा, जो अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है और उन कार्यों के परिणामों का त्याग कर देता है, वह एक योगी एवं संन्यासी है। केवल अपने कर्मों का त्याग करके, बिना कोई कार्य किए, कोई भी संन्यासी नहीं बन सकता।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥६-२॥

हे पाण्डुपुत्र, जिसे संन्यास कहा जाता है वह दरसल योग के समान ही होता है। इंद्रियों को संतुष्ट करने की इच्छा का त्याग किए बिना कोई कभी योगी नहीं बन सकता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥६-३॥

जो योग मार्ग की प्रारंभिक अवस्था में है, उसके लिए कर्म ही माध्यम है। और जो योग में अभ्यस्त है, उसके लिए कर्म का त्याग ही माध्यम है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारुढस्तदोच्यते ॥६-४॥

जब किसी को ना तो इंद्रिय-तृप्ति की वस्तुओं से लगाव होता है, और न उन गतिविधियों से जो उनके आनंद की ओर ले जाए, उस समय, यह कहा जाता है कि किसी ने योग प्राप्त कर लिया है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६-५॥

मनुष्य को अपने मन के द्वारा स्वयं को ऊपर उठाना चाहिए ना कि अपने आप को नीचे गिरने देना। निश्चित रूप से, मन मनुष्यों का मित्र होने के साथ-साथ उनका सबसे बड़ा शत्रु भी है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६-६॥

जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, उसके लिए मन ही उसका मित्र है। लेकिन, जिसने अपने मन को नियंत्रित नहीं किया है, उसके लिए उसका मन ही उसका सबसे बड़ा शत्रु है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥६-७॥

जिन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है और जो शांत हैं, उन्हें परमात्मा (परम चेतना) की अनुभूति प्राप्त होती है। ऐसे व्यक्तियों के लिए सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, एवं मान-अपमान सभी एक समान होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

कई टीकाकारों ने यह कहा है की, भगवद्गीता के छठे अध्याय में बताए गए ध्यान की विधियां, अष्टांगयोग नामक योग प्रणाली की अष्टसंख्यक प्रक्रियाओं से लिए गए हैं। योगसूत्रों के प्रसिद्ध रचयिता, पतंजलि ने अष्टांगयोग योग प्रणाली को क्रमबद्ध क्रम में इस प्रकार वर्णन किया है -

सबसे पहले, हमे यम का अभ्यास करना चाहिए, जिसमें सूर्योदय से पहले बिस्तर से उठना, स्नान करना, वेदों का अध्ययन करना एवं पूजा की पद्धति शामिल है।

नियम की प्रक्रिया में नशा, अवैध संबंध, जुआ, मांस, मछली एवं अंडे का सेवन वर्जित होता है।

तत्पश्चात् व्यक्ति शारीरिक व्यायाम एवं अभ्यास से अपने शरीर को अनुकूल बना कर आसनों का अभ्यास शुरु करता है, जिसका उद्देश्य संपूर्ण शारीरिक संतुलन पाना होता है।

तब वह प्राणायाम करने के लिए अग्रसर होता है जिसमे अपने श्वास को अन्दर एवं बाहर क्रमानुसार नियंत्रित करने का अभ्यास विभिन्न आसनो के साथ किया जाता है। जब आसन एवं प्राणायाम केवल स्वास्थ्य पाने के उद्देश्य से किया जाता है, तो कभी-कभी इसे हठ योग कहा जाता है।

प्राणयाम के बाद प्रत्याहार का अनुसरण होता है, अर्थात, इंद्रिय-वस्तुओं से इंद्रियों को हटाना और मन को आत्मनिरीक्षण युक्त एवं अंतर्ज्ञानात्मक बनने के लिए प्रशिक्षित करना। तब जाकर कोई व्यक्ति अपने ध्यान में बिना विचलित हुए अपने मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर पाता है। इसे धारण कहा जाता है, जो है एकाग्रचित्त की प्राप्ति।

एक बार मन को एकाग्रचित्त करने की क्षमता प्राप्त करने के पश्चात, बाहरी स्त्रोतों द्वारा बिना ध्यान भंग किए हुए ही कोई वास्तविक ध्यान आरंभ कर सकता है। योग प्रणाली में ध्यान के कई रूप हैं, हालांकि, उनमें से कोई भी अवस्तुता या शून्यता पर ध्यान केंद्रित करने की सलाह नहीं देते। योग में ध्यान लगाने के तीन मुख्य वस्तुएं हैं, ये हैं ब्रह्मन (पारलौकिक प्रकाश), परमात्मा (मूल परम-चेतना) और भगवान् (श्री कृष्ण)।

समाधि अष्टांगयोग का अंतिम चरण है जिसमें, योगी भौतिक शरीर छोड़ने के समय, अपनी वांछित सिद्धी के लक्ष्य को प्राप्त करते है। जो योगी ब्रह्मन या परमात्मा के प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, वे अपने शरीर का त्याग करने के पश्चात ब्रह्मज्योति में प्रवेश करते हैं, और जो योगी भगवान् के प्राप्ति की इच्छा रखते हैं वे वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करते हैं जहां वे भगवान् श्री कृष्ण की अलौकिक लीला में सम्मिलित होने जाते हैं।

योग के कई आचार्यों के अनुसार, केवल भगवत् प्राप्ति ही शाश्वत है। ब्रह्मन या परमात्मा की प्राप्ति एवं सर्वोच्च ब्रह्मन में विलय होने के बाद भी, योगी को फिर से भौतिक दुनिया में वापस आना होगा एवं फिर से जन्म और मृत्यु के चक्र को शुरू करना होगा। ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि क्रियाशीलता ही सभी जीवात्माओं की आंतरिक प्रकृति होती है। यद्यपि ब्रह्म-ज्योति में जो आनंद की भावना है वह भौतिक सुख की तुलना में हजारों गुना अधिक होती है, तिस पर भी कर्म करने की इच्छा बनी रहती है। लेकिन, चूंकि ब्रह्मन सिद्ध योगी एवं परमात्मा सिद्ध योगी श्री कृष्ण की भक्तिपूर्ण सेवा करने के योग्य नहीं हैं, वे आध्यात्मिक लोक में प्रवेश नहीं कर सकते, और इसलिए उन्हें निश्चित रूप से दोबारा इस भौतिक दुनिया में फिर से जन्म लेना पड़ेगा।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥६-८॥

जो योगी अपने ज्ञान एवं आत्म-साक्षात्कार के कारण आत्म-संतुष्ट रहता है, वह योगी अपने आध्यात्मिक स्वभाव में स्तिथ रहकर, एवं अपने इंद्रियों को वश में रखकर, सभी वस्तुओं को एक समान रूप से देखता है, चाहे वह कंकर हो, या पत्थर हो, या सोना हो।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६-९॥

ऐसा निष्पक्ष-प्रज्ञावान योगी, सभी को, एक सच्चा शुभचिंतक, एक स्नेही उपकारी, शत्रु, तटस्थ व्यक्ति, एक मध्यस्थ, एक ईर्ष्यालु व्यक्ति, एक रिश्तेदार, एक पवित्र व्यक्ति, और अधार्मिक व्यक्ती को एक समान भाव से देखता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥६-१०॥

एक योगी को अपने मन और शरीर को पूरी तरह से नियंत्रित करके एकांत स्थान में निवास करना चाहिए। उसे समस्त आकांक्षाओं तथा संग्रहभाव से मुक्त होकर लगातार अपने मन को, अपनी अंतरात्मा पर केंद्रित करना चाहिए।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥६-११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥६-१२॥

योगी को एक निर्मल वातावरण में एक ऐसा आसन स्थापित करना चाहिए जो न तो बहुत ऊंचा हो ना बहुत नीचा, फिर उस आसन पर कुशा, मृगछाला, एवं मुलायम वस्त्र बिछाना चाहिए। इस आसन पर बैठकर योगी को मन, इन्द्रियों एवं कर्मों को वश में रखते हुए, मन को एक बिन्दु पर एकाग्रित करके, अपने हृदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए।

समं कायशिरोग्रीवंधारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥६-१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥६-१४॥

अपने शरीर, सिर एवं गर्दन को सीधा रखकर, योगी को अचल व स्थिर रहना चाहिए, और इस अवस्था में किसी अन्य दिशा पर बिना दृष्टि डाले, अपनी नाक के सिरे को ताकते रहना चाहिए। अविचलित, निर्भय और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, उसे बैठकर, मुझे ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानते हुए, मुझ पर ध्यान लगाकर अपने मन को वश में करना चाहिए।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६-१५॥

इस तरह योगी भौतिक इच्छाओं से अपने मन को हटाकर उसे नियंत्रित कर लेता है। तब वह परम शांति एवं भौतिक अस्तित्व से मुक्ती पाकर, मेरा धाम प्राप्त कर लेता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६-१६॥

हे अर्जुन, बहुत अधिक खाने से या बहुत कम खाने से, ज्यादा सोने से या बहुत कम सोने से, कोई योग अभ्यास नहीं कर सकता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६-१७॥

जो खाने और विश्राम करने में संयमित रहे, जो अपने सभी कार्यों को नियमित तरीके से करे, और जो अपने निद्रा एवं जागृत अवधियों में अच्छी संतुलन बनाए रखे, योग ऐसे व्यक्ति की पीड़ा को नष्ट कर देता है।

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण अर्जुन को एक बार दोबारा श्लोक १५ में बताते हैं कि योग का अंतिम लक्ष्य उनके सर्वोच्च धाम (वैकुंठ या गोलोक वृन्दावन) को प्राप्त करना है। वास्तव में यही योग पद्धति का अंतिम लक्ष्य है। यदि कोई व्यक्ति बहुत अधिक भोजन करता है या पर्याप्त भोजन नहीं करता है, तो वह योगी नहीं हो सकता। बहुत अधिक भोजन का यह भी अर्थ होता है कि शरीर को बनाए रखने के लिए मांसाहारी खाद्य पदार्थों का सेवन करना, जबकि वास्तव में यह आवश्यक नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि दूध को मांसाहारी मानकर इसके उत्पादों के सेवन

से परहेज नहीं करना चाहिए। दूध संभावित सबसे पूर्ण भोजन है। दुग्ध उत्पाद एक मजबूत शारीरिक गठन के विकास में एवं हमारे मस्तिष्क की कोशिकाओं का पोषण करने में मदद करती हैं और इस प्रकार ये हमारी सोचने की क्षमता को भी विकसित करती है। योग एक ऐसी चीज है जिसका अभ्यास भारत में हजारों सालों होता आ रहा है, और तब से लेकर आज तक, योगियों ने दूध और दूध से बने पदार्थों का, जैसे कि दही, पनीर आदि के सेवन की अनुशंसा की है। केवल हाल ही के दिनों में कुछ लोगों ने दूध के उत्पादों को लेना बुरा समझ रखा है, लेकिन योग के आचार्यों ने कभी भी इस तरह के परहेज की अनुशंसा नहीं की है।

उपरोक्त श्लोकों में उचित बैठने का ढंग, इंद्रियों पर नियंत्रण एवं ब्रह्मचर्य का पालन करने की भी सिफारिश की गई है, क्योंकि ऐसी विधि के बिना वास्तव में कोई भी योगी नहीं हो सकता। ध्यान करते हुए, अन्य दिशाओं में नज़र डाले बिना नाक की नोक पर टकटकी लगाकर संपूर्ण एकाग्रता से धारणा करना, और श्री कृष्ण पर ध्यान लगाना ही ध्यान का सर्वोच्च लक्ष्य है।

जहाँ तक संभव हो, योग का अभ्यास करने के लिए योगी को पवित्र (धार्मिक) स्थान पर ही निवास करने का प्रयास करना चाहिए। भारत में योगी, गंगा के तट पर, हरिद्वार, वाराणसी, या मायापुर में रहना पसंद करते है, या किसी दूसरी पवित्र नदी जैसे कि यमुना, कावेरी, गोदवारी, के तट पर रहना पसंद करते हैं। कुछ योगी हिमालय के अभयारण्य को पसंद करते हैं, और कुछ अन्य चार-धाम (द्वारका, बदरीनाथ, जगन्नाथ पुरी और रामेश्वरम) में निवास करना पसंद करते हैं। किसी भी स्थिति में, योगी को योग का अभ्यास करने के लिए उचित स्थान का चुनाव करना चाहिए।

यदि कोई पवित्र स्थान पर या पवित्र नदी के तट पर रहने में असमर्थ है, तो उस व्यक्ति को एक आश्रम या योग समुदाय में रहने का प्रयास करना चाहिए। यदि कोई योग समुदाय में रहने में असमर्थ है तो व्यक्ति को अपने घर को पवित्र करना चाहिए, जहाँ पर श्री कृष्ण की पूजा और मंत्र साधना की जा सके। घर में चिंतन, अध्ययन और इंद्रियों को नियंत्रित करने के लिए अनुकूल माहौल होना चाहिए। घर शांतिपूर्ण होना चाहिए और हिंसा, पशु हत्या, नशा आदि से मुक्त होना चाहिए।

इस आधुनिक युग (कलियुग) में पशु-हत्या, नशा और कई अन्य प्रतिकूल गतिविधियां हर जगह पाई जाती हैं। इसलिए, योग अभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान ढूंढना, विशेषकर अष्टांग-योग, राज-योग, हठ-योग आदि के लिए बहुत मुश्किल है। इसलिए कलियुग में भक्ति योग अनुशंसित प्रक्रिया है जिसमें ध्यान महा मंत्र के जप के माध्यम से किया जाता है -

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

महा-मंत्र का जाप इतना शक्तिशाली और पावन होता है कि जहाँ भी इसका जाप किया जाता है, वह उस स्थान को शुद्ध कर देता है। इस प्रकार भक्ति-योग प्रक्रिया का अभ्यास किसी भी जगह पर कहीं भी किया जा सकता है। कलियुग में भक्ति-योग ही वास्तव में एकमात्र अनुशंसित प्रक्रिया है।

एक योगी को सदैव आत्म-संतुष्टि, ज्ञान एवं आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। ऐसा योगी जो इस दुनिया में सदैव सब चीज़ों को एक भाव से देखता है वह अस्थायी प्रकृति की किसी भी वस्तु पर आसक्त नहीं होता। श्रीकृष्ण का कहना है कि एक योगी 'सोना और पत्थर' दोनों को एक समान भाव से देखता है। इसका यह मतलब नहीं है कि योगी साधारण वस्तुओं एवं सोने की चमक के अंतर को नहीं समझता, किंतु इसका अर्थ यह है कि योगी धन संग्रह से संतुष्टि पाने के विचार से आकर्षित नहीं होता।

यह कहा गया है कि धन की कामना ही दुनिया को गोल घुमाती है। यह इस अर्थ में सत्य है कि धन की इच्छा ही अधिकांश लोगों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। लेकिन दुःख की बात है कि हम यह भी स्पष्ट रूप से देख रहे हैं कि धन का लोभ आज दुनिया को - राजनैतिक अशांति की पराकाष्ठा जो युद्ध, मृत्यु एवं विनाश, आर्थिक अस्थिरता के साथ-साथ पर्यावरण में चरम अस्थिरता की ओर लिये जा रहा है। इसके परिणाम स्वरूप ही प्राकृतिक आपदाएं हो रही हैं एवं प्राणियों की कई प्रजातियां भी विलुप्त हो रही हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६-१८॥

जब स्थिर मन अनन्य भाव से स्वयं में स्थित होता है, तो वह व्यक्ति सभी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है - ऐसा व्यक्ति योग में स्थित कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६-१९॥

जिस तरह एक हवा रहित जगह पर एक ज्योति नहीं टिमटिमाती, उसी तरह स्वयं पर एकाग्रत एक योगी का मन कभी नहीं लहराता।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६-२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥६-२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६-२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥६-२३॥

जब योगाभ्यास से मन संयमित और शांत हो जाता है, तो वह भौतिक इच्छाओं से अलग हो जाता है। तब वह व्यक्ति स्वयं की अनुभूति कर सकता है एवं आनंद की प्राप्ति करता है। सांसारिक इंद्रियों के दायरे से परे और बुद्धि के माध्यम से प्राप्त, शाश्वत आनंद की इस अवस्था में स्थित होने के पश्चात, कोई भी वास्तविकता से विचलित नहीं होता। इस स्तिथि को प्राप्त करने के बाद, वह समझता है कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है और वह बड़ी से बड़ी विपत्तियों में भी विचलित नहीं होता। तुम्हे यह समझना चाहिए की यह अवस्था जिसमें समस्त दुःखों का निवारण हो जाता है, उसे ही योग कहते हैं।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥६-२४॥

व्यक्ति को दृढ संकल्प और अटूट मन के साथ योग का अभ्यास करना चाहिए। योग का अभ्यास करने के लिए, व्यक्ति को उन सभी विचारों का त्याग करना चाहिए जो भौतिक इच्छाओं का कारण बनते हैं और इस प्रकार मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके मन को इंद्रिय-वस्तुओं से अलग करना चाहिए।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥६-२५॥

धीरे-धीरे, बुद्धि के माध्यम से मन को स्थिर करना चाहिए, और उसे केवल स्वयं (आत्मा) पर केंद्रित करना चाहिए, कहीं और नहीं।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६-२६॥

मन का स्वभाव चंचल और अस्थिर होता है। फिर भी, व्यक्ति को अपने मन को भटकने से रोक कर उसे अपनी आत्मा के अधीन में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥६-२७॥

परम आनंद उस योगी को प्राप्त होता है जिसने अपने जुनून को वश में कर लिया है, जिसका मन शांत है, जो बुरे व्यसनों से मुक्त है, और जो सदैव आध्यात्मिक धरातल पर स्थित रहता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥६-२८॥

इस प्रकार, योग के निरंतर अभ्यास के माध्यम से, एक योगी जो भौतिक संदूषण से रहित है, परम-सत्य के संपर्क के माध्यम से शाश्वत परमानंद की प्राप्ति कर सकता है।

~ अनुवृत्ति ~

योग के अभ्यास के लिए मन का नियंत्रण सर्वोत्कृष्ट है। समस्या स्वयं के मन के स्वभाव के कारण ही उत्पन्न होती है। मन का स्वभाव चंचल और अस्थिर है, यह सदैव इधर-उधर भटकता रहता है और एक इन्द्रिय-वस्तु से अगले वस्तु तक जाता रहता है। नींद में भी मन का भटकना सक्रिय रहता है। लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं, एक योगी को सदैव अपने मन को उच्च चेतना के नियंत्रण में रखने का प्रयास करना चाहिए। वास्तव में यह योगी के लिए सबसे बड़ी चुनौती है जिसका उसे सबसे पहले समना करना पड़ता है।

कुछ पश्चिमी दार्शनिक प्रणालियों में मन की कल्पना स्वयं के रूप में की जाती है, लेकिन योग में यह उचित नहीं है। मन को योग में आंतरिक इन्द्रिय' कहा

जाता है। शरीर की इन्द्रियां जैसे दृष्टि, ध्वनि, स्पर्श, सूंघना एवं स्वाद बाहरी वस्तुओं के साथ जुड़े होते हैं और मन संकाय के रूप में कार्य करता है जो अंततः ऐंद्रिय अनुभवों का तात्पर्य समेटकर प्रस्तुत करता है। लेकिन योग में आत्मा की कल्पना एक तत्त्व के रूप में की जाती है जो मन और शरीर से स्वतंत्र होता है। इसलिए, योग के ज्ञान के अनुसार, शरीर और मन की मृत्यु होने पर भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती! यह बिलकुल कुछ अलग सा है।

योग प्रणाली के भीतर कई बाह्य पद्धति (बाहरी प्रक्रिया) हैं जैसे कि उपवास करना, एकांत स्थान में रहना जो मन के नियंत्रण में मदद करते हैं। लेकिन मन का स्वभाव वायु की तरह होने के कारण, ये बाहरी तरीके अक्सर अपर्याप्त रह जाते हैं। परन्तु, भक्ति-योग की पद्धति में मंत्र द्वारा मन को नियंत्रित करने की अनुशंसा की जाती है। मंत्र शब्द की उत्पत्ति दो संस्कृत शब्दों से हुई है - 'मन' (मन) और 'त्रायते' (नियंत्रण करने के लिए)। मन को मंत्र जप की प्रक्रिया में व्यस्त करने से - विशेष रूप से महामंत्र के जाप से, चंचल मन स्वयं (आत्मा) पर स्थिर हो जाता है। महामंत्र परम-सत्य श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष ध्वनि निरूपण है। वैसे तो, महामंत्र दोनों ही सर्वशक्तिशाली एवं सर्वाकर्षक है।

महा-मंत्र के प्रभाव से जीवित प्राणियों की वास्तविक पहचान को आवृत करने वाला अज्ञान दूर हो जाता है, और महामंत्र की सर्व-आकर्षक प्रकृति, जप करने वाले के हृदय को परम आध्यात्मिक आनंद से परिपूर्ण कर देता है। इसलिए (इन कारणों से) मन को नियंत्रित और स्थिर करने के लिए महामंत्र का जप अत्यधिक अनुशंसित है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६-२९॥

जो परम-सत्य से जुड़ा होता है, वह सभी चीजों को समान रूप से देखता है। वह सभी जीवित प्राणियों में परमात्मा को देखता है एवं सभी प्राणियों को परमात्मा में देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६-३०॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी लुप्त होता हूँ और न मेरे लिए कभी वह लुप्त होता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥६-३१॥

वह योगी जो मुझे इस ज्ञान के साथ पूजता है कि मैं सभी जीवित प्राणियों में (परम चेतना के रूप में) स्थित हूँ, सभी परिस्थितियों में मेरे साथ रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥६-३२॥

हे अर्जुन, जो सभी के सुख और दुःख को समता से देखता (सम्मान देता) है, जैसे कि ये (सुख और दुःख) उसके अपने हैं, वह योगियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

अर्जुन उवाच ।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥६-३३॥

अर्जुन ने कहा - हे मधुसूदन, आपने योग की जिस पद्धति का वर्णन किया है मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता क्योंकि स्वभाव से ही मन बहुत अस्थिर (चंचल) है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६-३४॥

मन अनियमित, अशांत, बहुत शक्तिशाली और हठी (जिद्दी) है। हे कृष्ण, मुझे लगता है कि इसे नियंत्रित करना उतना ही कठिन है जितना कि वायु को नियंत्रित करने का प्रयास करना।

श्रीभगवानुवाच।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६-३५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया - हे महाबाहो, कुन्तीपुत्र! निस्सन्देह चंचल मन को वश में करना अत्यन्त ही कठिन है; किन्तु उपयुक्त अभ्यास एवं विरक्ति द्वारा मन को वश में करना सम्भव है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥६-३६॥

मेरा निष्कर्ष यह है कि अगर किसी का मन अनियंत्रित हो तो उसके लिए योग कठिन है। किंतु जब व्यक्ति उचित अभ्यास द्वारा मन को नियंत्रित करने का प्रयास करता है तब वह सफल हो सकता है।

~ अनुवृत्ति ~

श्रीमद्भगवद्गीता में पाँच प्राथमिक विषयों की व्यख्या की गई है, जैसे कि, आत्मा (व्यक्तिगत चेतना), प्रकृति (भौतिक प्रकृति), कर्म (क्रिया), काल (समय) और ईश्वर (परम नियन्ता)। भगवान् श्रीकृष्ण को ही सभी वस्तुओं के अंतर्निहित सिद्धांत के रूप में समझना ही ज्ञान के अर्जन की पराकाष्ठा है। परन्तु भगवद्गीता के कुछ टीकाकारों ने बिना श्रीकृष्ण के ही गीता की व्याख्या करने की चेष्टा की है। यानी की उन्होंने ऐसी बातें कही है कि, "श्रीकृष्ण केवल परम ब्रह्मन के ही अस्थायी अभिव्यक्ति थे," "व्यक्ति के रूप में उनका कोई शाश्वत अस्तित्व नहीं है," या जब श्रीकृष्ण ऐसी बातें कहते हैं जैसे कि, "वह मेरे धाम की प्राप्ति करता है," तो वास्तव में श्रीकृष्ण का अर्थ यह है कि वह कुछ अन्य अवैयक्तिक (व्यक्तित्वहीन) प्रकृति को प्राप्त करता है। यद्यपि, योग के सच्चे गुरू एवं वैदिक साहित्य के विद्वान इस प्रकार के विचारों को अस्वीकार करते हैं।

हालांकि, भगवद्गीता, निश्चित रूप से गूढ़ (रहस्यमय) है, इस कारण से कि यह परम सत्य का विस्तृत रूप से निरूपण करता है और यह बताता है की उस परम सत्य को कैसे प्राप्त किया जाए, तब भी परम-सिद्धि के विषय पर यह कोई प्रतीकात्मक या काल्पनिक लेख नहीं है। भगवद्गीता को अक्षरश (पूरी तरह से) श्रीकृष्ण और उनके प्रिय मित्र एवं भक्त अर्जुन के बीच वार्तालाप के रूप में लिया जाना चाहिए। इसी में भगवद्गीता को समझने का खुला रहस्य निहित है। श्रीकृष्ण वही कहते हैं जो वे वास्तव में कहना चाहते हैं और जो वे वास्तव में कहना चाहते हैं वही वे कहते हैं, इस कारण, भगवद्-गीता पर कोई अमूर्त काल्पनिक टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

कि श्रीकृष्ण हर जगह, सभी वस्तुओं में एवं सभी प्राणियों के हृदय में वास करते हैं यह उपरोक्त छंदों में स्थापित किया गया है। श्रीकृष्ण का कहना है कि वह सभी जीवित प्राणियों में परमात्मा के रूप में वास करते हैं और सभी जीवित

प्राणी उनके अभिन्न अंग हैं। श्रीकृष्ण सभी में हैं, एवं सबकुछ श्रीकृष्ण में निहित है। जो इस तरह से देखने का प्रयास करता है वह प्रबुद्ध (ज्ञानी) बन जाता है - सचमुच इस प्रकार की दृष्टि को ही ज्ञानोदय (ज्ञान का अनुभव) कहते हैं।

अर्जुन एक आत्म-सिद्ध योगी एवं श्रीकृष्ण के नित्य संगी होने के नाते, ऐसे निष्कर्षों पर श्रीकृष्ण के साथ वे तर्क नहीं करते हैं। परन्तु ऐसी सिद्धि प्राप्त करने के लिए योग की कठोरता पर अर्जुन आपत्ति व्यक्त ज़रूर करते हैं। अर्जुन कई जिम्मेदारी वाले एक पारिवारिक व्यक्ति थे, इसलिए वे योग का अभ्यास कैसे कर सकते थे? अर्जुन अपने परिस्थिति को ही उदाहरण बनाकर आम जनता के पक्ष में बहस करते हैं, कि श्रीकृष्ण द्वारा अब तक वर्णित मन को वश करने की कड़ी योग प्रणाली बहुत ही कठिन है। यह महज़ अव्यावहारिक है।

अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण का यह आश्वासन है कि यदि कोई दृढ़ संकल्प से अभ्यास करे तो वह अवश्य सफल होगा। लेकिन अर्जुन की बात को समझते हुए, अपनी भगवद्गीता के प्रवचन में आगे चलते, श्रीकृष्ण निश्चित ही परम-सत्य की प्राप्ति को सभी की पहुंच में ले आएंगे।

अर्जुन उवाच ।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥६-३७॥

अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण, एक ऐसे व्यक्ति की गन्तव्य स्थान क्या है जिसमें श्रद्धा है किंतु योग की प्रक्रिया से अपने मन को वश में न कर पाने से वह सिद्धि प्राप्त नहीं करता?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥६-३८॥

हे महाबाहु कृष्ण, क्या ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक पथ पर भ्रमित होकर, बिना आश्रय के, बिखरे बादल की भाँति विनष्ट हो जाता है?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥६-३९॥

हे कृष्ण, केवल आप ही मेरा संदेह पूरी तरह से मिटा सकते हैं, कोई और नहीं।

श्रीभगवानुवाच ।
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥६-४०॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया - हे पार्थ, ऐसा व्यक्ति न इस जन्म में ना अगले जन्म में विनष्ट होता है। जो धर्म का आचरण करता है वह कभी भी दुर्भाग्य का सामना नहीं करता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥६-४१॥

जो योग के अभ्यास से भटक जाते हैं वे स्वर्गिक लोकों को प्राप्त करते हैं और कई वर्षों तक वहीं रहते हैं। उसके पश्चात, वह किसी कुलीन और समृद्ध परिवार में मनुष्यों के बीच जन्म लेते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥६-४२॥

अन्यथा, वे एक विद्वान योगी के परिवार में जन्म लेते है। निस्संदेह, इस तरह का जन्म इस संसार में दुर्लभ होता है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥६-४३॥

हे कुरु वंशज, अपने पिछले जन्मों में प्राप्त योग के ज्ञान को पुन: समेट कर, वे सफल होने का पुन: प्रयास करते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥६-४४॥

अपने पिछले जीवन के अभ्यास के कारण, वे स्वत: ही योग की प्रक्रिया के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। एवं, इस योग की प्रक्रिया पर केवल जिज्ञासा करके, वे बड़ी आसानी से वेद के अनुष्ठानों से परे स्तिथ हो जाते हैं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥६-४५॥

सच्ची निष्ठा से प्रयत्न करने के बाद योगी सभी संदूषणों से शुद्ध हो जाता है और अनेकानेक जन्मों के अभ्यास के पश्चात् सिद्ध होकर वह परम गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥६-४६॥

ऐसा योगी, एक तपस्वी (जो घोर तपस्या करता है), एक ज्ञानी (जो बौद्धिक खोज द्वारा पूर्णता को प्राप्त करने की कोशिश करता है), और एक कर्मी (जो वैदिक अनुष्ठानों द्वारा मोक्ष पाने की कोशिश करता है) से भी श्रेष्ठ होता है। यही मेरा निष्कर्ष है, हे अर्जुन - इसलिए तुम एक योगी बनो!

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मांस मे युक्ततमो मतः ॥६-४७॥

मैं भक्ति-योगी को सभी योगियों में से सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ, जो मुझ में दृढ़ रहते हैं, जो मुझ पर ध्यान करते हैं और दृढ़ श्रद्धा से मेरी पूजा करते हैं!

~ अनुवृत्ति ~

श्लोक ३७ एवं ३८ में अर्जुन के प्रश्न हमारी जानकारी के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। अर्जुन जानना चाहता है कि जो थोड़े समय के लिए योग का अभ्यास करता है, किंतु किसी कारणवश आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं करता, और मृत्यु के कारण शरीर का त्याग कर देता है, उसका क्या होता है। ऐसे व्यक्ति की अगले जन्म में क्या नियति है?

यहां ध्यान देने वाली पहली बात यह है कि अर्जुन जानता है एवं पूरी तरह से आश्वस्त है कि मात्र एक जीवनकाल सब कुछ नहीं होता। जैसा कि श्रीकृष्ण ने पहले कहा है, हमने अतीत में कई जीवन बिताए थे और भविष्य में भी हमारे कई जीवन होंगे। इसलिए अर्जुन अपनी या किसी ऐसे व्यक्ति की नियती जानना चाहते है, जो योग का अभ्यास करता है, परन्तु सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। अगले जन्म में ऐसे व्यक्ति का क्या गन्तव्य होगा?

श्रीकृष्ण का उत्तर सर्वज्ञ परम पुरुष का उत्तर है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक योगी का कभी नुकसान नहीं होता। यदि कोई इस जीवन में योग-सिद्ध नहीं हो पाता है, तो अगले जीवन में वह व्यक्ति एक अनुकूल परिस्थितियों में जन्म

लेता है और दोबारा इस प्रक्रिया को वही से शुरू करता है। अगले जन्म में, वह दोबारा योग के अभ्यास से आकर्षित होता है और वह अपने पथ पर जारी रहता है। भले ही इसमें कई जीवनकाल लग जाये, योगी अपनी दृढ़ता और दृढ़ संकल्प से, सर्वोच्च गंतव्य को प्राप्त करता है। इसलिए, श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, सभी परिस्थितियों में, एक योगी बनो।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए ध्यान योग नामक छठे अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ७

ज्ञान-विज्ञान योग

श्रीभगवानुवाच ।
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७-१॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा – हे पार्थ, यह सुनो कि कैसे मन को मुझ पर आसक्त किये योग का अभ्यास करने से, और पूर्ण रूप से मेरा आश्रय लेने से, निश्चित रूप से मुझे जान पाओगे।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥७-२॥

मैं तुम्हे ज्ञान और इसकी प्राप्ति (अनभूति) को समझाता हूँ। एक बार जो तुम इसे समझ लो, तो इस संसार में जानने के लिए कुछ और शेष नहीं रहेगा।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥७-३॥

हजारों व्यक्तियों में से कोई एक सिद्धि प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। उन दुर्लभ व्यक्तियों में, जो सिद्धि के लिए प्रयास करते हैं, उनमे से कोई एक ही मुझे वास्तव में जान पाता है।

~ अनुवृत्ति ~

भगवद्गीता का यह अध्याय ज्ञान-विज्ञान-योग के शीर्षक से जाना जाता है। ज्ञान का अर्थ है स्वयं (आत्मा) का बोध जो हमे आत्मा और शरीर के बीच का अंतर दिखाता है, या दूसरे शब्दों में, यह तथ्य कि स्वयं (आत्मा) शरीर नहीं होता। विज्ञान का अर्थ है ज्ञान का साक्षात्कार या श्रीकृष्ण के साथ स्वयं के आन्तरिक संबंध को समझना। श्रीमद्भागवतम् में भी ज्ञान एवं विज्ञान का उल्लेख इस प्रकार है -

ज्ञानं परम गुह्यं मे यद् विज्ञान समन्वितम् ।
सरहस्यं तदंगं च ग्रहाण गदितं मया ॥

वेद शास्त्रों में वर्णित श्रीकृष्ण का ज्ञान अत्यंत ही गोपनीय है, और भक्ति के गूढ तत्त्वों को जानने के साथ ही इसकी अनुभूति की जानी चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् २.९.३१)

जब हम ज्ञान की बात करते हैं, तो आधुनिक मनुष्य तुरंत ही वैज्ञानिक ज्ञान के बारे में सोचता है कि वही सबसे उचित है। जबकि, भगवद्गीता का ज्ञान, आत्मा के उस ज्ञान को संबोधित करता है, जो जड़-तत्त्व के ज्ञान से या आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से बिलकुल ही विपरीत है। जड़-पदार्थ के ज्ञान को अपरा विद्या कहा जाता है, जो आत्मज्ञान से काफी अलग है, और वह कभी भी आत्म-साक्षात्कार की ओर नहीं ले चलता।

लगभग पाँच शताब्दियों पहले, बुद्धिवादी आंदोलन (Rationalist Movement) की शुरुआत से, विज्ञान (Science) ने जड़-पदार्थ से स्वतंत्र चेतना के अभिप्राय को पूरी तरह से ख़ारिज कर दिया है। ब्रह्मांड की उत्पत्ति और जीवन की उत्पत्ति को समझाने के लिए कई वैज्ञानिक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया जाता है, जैसे कि 'बिग बैंग' एंव "डार्विनियन इवोल्यूशन", लेकिन ये स्पष्टीकरण केवल एक परिकल्पना है, इसमें निर्णयात्मक प्रमाण अनुपस्थित हैं।

सदियों से वैज्ञानिक और आस्तिक समुदाय आपस में एक-दूसरे से असहमत रहे हैं, लेकिन हाल ही में ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों अंततः निकट आ सकते हैं। वैज्ञानिक समुदाय में अग्रणी व्यक्ति 'चेतना' को वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। दरअसल, जीवविज्ञानी और 'स्टेम सेल' चिकित्सक, डॉ रॉबर्ट लैंज़ा उनकी किताब, "Biocentrism - How Life Creates the Universe" (जीवन कैसे ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है) में इस बात को निर्विवाद रूप से मानते हैं कि 'चेतना' से 'जड़-पदार्थ' (विषय वस्तु) का विकास हुआ है न की 'जड़-पदार्थ' से 'चेतना' का। अगर यह मौजूदा चलन जारी रहा तो विज्ञान (Science), बहुत जल्द 'ज्ञान' की राह पकड़ सकता है।

यह वैश्विक नज़रिये कि चेतना ही जड़-पदार्थ का स्रोत है, इसे प्रकाशित होने में लंबा समय लगा है। लेकिन जैसा कि श्री कृष्ण ने श्लोक ३ में कहा है, विरले ही सिद्धि के लिए प्रयास करते हैं, और जो वास्तव में श्रीकृष्ण को समझ पाते हैं वे और भी दुर्लभ हैं। इस लक्ष्य से संसार में सभी विद्वान एवं पढ़े-लिखे लोगों को भगवद्गीता से सीख लेनी चाहिए।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥७-४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और मिथ्या-अहंकार - ये आठ विभिन्न तत्त्व मेरी भौतिक प्रकृति में समावेशित हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदंधार्यते जगत् ॥७-५॥

तथापि, हे महाबाहु, यह जानो कि इस निम्न प्रकृति से परे मेरी दिव्य प्रकृति है। वह चेतन शक्ति है जो जीवात्माओं से युक्त है और संपूर्ण जगत का निर्वाह करती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥७-६॥

यह समझने की कोशिश करो कि सभी प्राणी इन दो स्रोतों से प्रकट होते हैं और मैं ही संपूर्ण सृष्टि के सृजन और विनाश का कारण हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ पर जगत निर्माण के मूल भौतिक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और हवा को अधिकांश भाग में समझना आसान है - जबकि, अदृश्य तत्व 'ख़म' या आकाश को समझना मुश्किल है। 'खम' (आकाश) को जीवन को समाने वाले स्थान के रूप में परिभाषित किया गया है। बहुत समय से, आधुनिक विज्ञान ने 'खम' (आकाश या नभ) को एक मूल भौतिक तत्त्व समझने वाली भगवद्गीता की अवधारणा को अस्वीकार किया है। हालांकि, एक बार फिर से वैज्ञानिक समुदाय को गंभीर परेशानियों का समाना करना पड़ रहा है कि ब्रह्मांड में वे उस पकड़ में न आने वाले पदार्थ का कैसे पता लगाए जिससे की वे यह समझा सके की ब्रह्मांड कैसे काम करता है। भौतिक विज्ञानियों का कहना है कि यह तत्त्व ब्रह्मांड के ८०% या उससे भी अधिक भाग को बनाती है, लेकिन उनके लिए यह अज्ञात है, और इसका पता लगाने में अब तक वे असमर्थ रहे हैं। उन्होंने इसे 'डार्क मैटर' (अज्ञात द्रव्य) कहा है।

१९३३ में "डार्क मैटर" की घटना के अस्तित्व का पता लगाने वाले पहले व्यक्ति कैलिफोर्निया इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के स्विस 'एस्ट्रोफिजिकिस्ट' (तारा-भौतिकविद्) फ्रिट्ज ज़्विकी थे।

ज़्विकी ने कोमा नामक आकाशगंगाओं के समूह में वायरल प्रमेय का उपयोग करके अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) द्रव्यमान का प्रमाण प्राप्त किया। ज़्विकी ने इस समूह की कुल द्रव्यमान का अनुमान, समूह के छोड़ पर स्थित आकाशगंगाओं की

गति के आधार पर लगाया, और इस प्रकार पाए गए अनुमान की तुलना उन्होंने आकाशगंगाओं की कुल संख्या और समूह की कुल प्रभा पर आधारित अनुमान के मुकाबले की। उन्होंने संख्या और प्रभा द्वारा किए गए आकलन से लगभग चार-सौ गुना अधिक द्रव्यमान पाया! कुंज समूह में दृश्यमान आकाशगंगाओं का गुरुत्वाकर्षण उनकी तेज़ कक्षाओं के अनुपात में बहुत कम होने के कारण कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता देखी गई। इसे 'मिसिंग मास प्रॉब्लेम' (द्रव्यमान अनुपस्थिती की समस्या) के नाम से जाना जाता है। इन निष्कर्षों के आधार पर, ज़्विकी ने अनुमान लगाया कि इस मामले में कुछ अदृश्य द्रव्यमान होना चाहिए जो क्लस्टर (कुंज समूह) को एक साथ रखने के लिए पर्याप्त द्रव्यमान और गुरुत्वाकर्षण प्रदान कर रहा है। यही पर 'डार्क मैटर' (अज्ञात द्रव्यमान) की खोज की शुरुआत थी।

अठहत्तर (७८) साल के बाद, विज्ञान अभी भी 'डार्क मैटर' की तलाश में है। वे जानते हैं कि यह वस्तुतः हर जगह विद्यमान है, परन्तु यह द्रव्यमान पता लगाने के प्रक्रम से बच जाता है और इसलिए वे इसका प्रेक्षण करने में असमर्थ हैं।

श्रीमद्भागवतम् एक ऐसे भौतिक तत्त्व की पहचान करता है, जिसके अन्य गुणों में से एक गुण यह है कि यह काफी हद तक पकड़ में न आने वाली वस्तु है। यह सर्वव्यापी है, लेकिन साथ ही साथ इसका पता लगना असंभव है। भागवतम के अनुसार इस तत्त्व को 'नभ' कहा जाता है, और भगवद्गीता में इसका उल्लेख 'खम' कहकर किया गया है।

'खम' तत्त्व की गतिविधियों, गुणों और विशेषताओं को वस्तु-समायोजन के लिए स्थान या जगह के रूप में देखा जा सकता है। जगह या स्थान, आंतरिक हो या बाह्य, दोनों को ही खम कहा जाता है। यदि भौतिकविदों द्वारा ध्यान दिया जाए, तो ''मिसिंग मास प्रॉब्लेम' (द्रव्यमान अनुपस्थिती की समस्या) खम के लिए उपयुक्त हो सकता हैं। खम एक भौतिक तत्त्व होने के नाते, सैद्धांतिक रूप से इसे एक 'संख्यात्मक कोड' सौंपा जा सकता है - फिर उन्हें वह मिल सकता है जो वह ढूंढ रहे हैं।

वैदिक विचार के अनुसार किसी भी वस्तु का महत्त्व उसके गुणों की तुलना में द्वितीय है - इसका अर्थ यह है, कि अन्वेषण के लिए किसी भी पदार्थ के गुणों का ज्ञान होना, उस पदार्थ के हाथ में होने के बराबर या उससे भी बेहतर है। इस हिसाब से, आधुनिक विज्ञान, 'डार्क मैटर' का पता लगा चुका है, क्योंकि

वैज्ञानिक इसके गुणों को लगभग समझ चुके हैं - परन्तु इसी बात को उन्होंने अभी तक बूझा नहीं है। श्रीमद्भागवतम् में नीचे लिखा श्लोक है -

भूतानां छिद्र-दातृत्वं बहिरन्तरमेव च।
प्राणेन्द्रियात्मा-धिष्ण्यत्वं नभसो वृत्ति-लक्षणम् ॥

> नभस की गतिविधियों और लक्षणों को इस प्रकार देखा जा सकता है कि यह सभी जीव जंतुओं के बाहरी एवं अंदरूनी अस्तित्व को समायोजित करती है, अर्थात प्राण-वायु, इन्द्रियां, एवं मन के क्रिया-क्षेत्र।

यह श्लोक एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण कार्य का संभवनीय आधार बन सकता है। यह श्लोक हमें समझाता है कि कैसे नभस से सूक्ष्म रूप उद्भव होते हैं, उनके क्या लक्षण और क्रियाएं होती हैं, एवं कैसे इस सूक्ष्म रूप से स्पर्शनीय पदार्थ प्रकट होते हैं, जैसेकि वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी।

भागवतम केवल इन आधारभूत पदार्थों की सूची नहीं देता, बल्कि काफी हद तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही समझाता है कि अस्तित्व के सबसे सूक्ष्म स्तर से लेकर ब्रह्माण्ड के खंडों तक कैसे पदार्थों का विकास होता है - यह सचमुच ही काफि विस्तृत एवं वैज्ञानिक है। फिर भी, द्रव्यों के इस ज्ञान का पूरा फायदा उठाकर संसार की सृष्टि के रहस्य को खोलने के लिए आधुनिक विज्ञान को अपने ज्ञात पदार्थों की सारणी में केवल खम को ही नहीं बल्कि अहंकार, मन, एवं बुद्धि को भी जोडना होगा। क्योंकि वाकई, भगवद्गीता इन्हें भौतिक पदार्थ ही कहती है। इसके अलावा, अहंकार, मन, और बुद्धि को खम से भी सूक्ष्म श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है, क्योंकि लक्षण से ही ये पदार्थ, आत्मा के लक्षणों के बहुत समीप हैं।

स्थूल और सूक्ष्म भौतिक पदार्थों को वैज्ञानिक आवर्त सारणी में जोडने के अतिरिक्त, भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि आत्मा (चेतना) और परमात्मा (परम चेतना) - इन दो दिव्य एवं भौतिक-विरोधी अवधारणाओं को जोडे बिना, अस्तित्व और वास्तव को पूरी तरह से समझना सम्भव नहीं है। ऐसा लगता है कि 'डार्क मैटर' से भी अधिक, आधूनिक-विज्ञान इस तत्त्व से जूझ रहा है। हमने इस तत्त्व को 'लैट मैटर' का नाम दिया है।

मन और बुद्धि को आत्मा मानकर भ्रमित नहीं होना चाहिए। असल में मन और बुद्धि जड़ पदार्थों से उद्भव नहीं होते, हालांकि कुछ दार्शनिक यही सुझाव

देते हैं। सूची के अंत में है अहंकार (मिथ्या अहंकार)। ये सब भौतिक पदार्थ हैं जो श्री कृष्ण की अप्रधान शक्ति अपरा प्रकृति द्वारा प्रकट किए जाते हैं। ये स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ भौतिक शरीर को बनाते हैं और इस तरह आत्मा को आच्छादित करते हैं।

भौतिक पदार्थों से प्रतिबन्धित जीव स्वयं को अपना शरीर मानते हैं। किंतु कृष्ण कहते हैं कि उनकी एक और शक्ति है - एक उत्कृष्ट शक्ति, जो चेतन शक्ति है, और सभी जीवात्माएं इसी में शामिल होते हैं।

भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से स्थूल एवं सूक्ष्म भौतिक पदार्थ, और साथ साथ चेतना एवं परम-चेतना, दोनों की व्याख्या दी गई है। जो कोई सिद्धांत इन तत्त्वों को शामिल नहीं करते, वे अधूरे हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७-७॥

धनञ्जय, कुछ भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। जिस प्रकार मोती धागे में गुंथे रहते हैं, उसी प्रकार सब कुछ मुझ पर ही आश्रित है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥७-८॥

हे कुंती पुत्र, मैं ही जल का स्वाद एवं सूर्य और चंद्रमा का प्रकाश हूँ, मैं सभी वेदों में पाया जाने वाला अक्षर, 'ॐ' हूं, मैं नभ (आकाश) में ध्वनि हूँ, और मैं ही पुरुष में पुरुषत्व हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥७-९॥

मैं पृथ्वी की मौलिक महक हूँ, मैं अग्नि का तेजस हूँ। मैं ही सभी प्राणियों का जीवन एवं तपस्वियों का तप हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥७-१०॥

यह जानो हो कि मैं ही सभी जीवों का मूल कारण हूँ। मैं ही बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वी व्यक्तियों का तेजस हूँ।

बलं बलवतांचाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥७-११॥

मैं बलवानों की महत्वाकांक्षा व लगाव से रहित बल हूँ। हे भरतश्रेष्ठ! मैं ऐसी प्रजनन की कामना हूँ, जो धर्म के विरुद्ध ना हो।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥७-१२॥

यह भी जान लो कि सभी चीजें जो सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण से उत्पन्न होते हैं, मैं ही उनका उद्गम हूँ। हालांकि मैं उनमें नहीं हूँ, लेकिन वे मुझ में निहित हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥७-१३॥

सारा संसार प्रकृति के इन तीन गुणों (सात्विक, राजसिक एवं तामसिक) से मोहित है। इसलिए, कोई भी मुझे जान नहीं सकता क्योंकि मैं प्रकृति के इन गुणों के परे एवं अपरिवर्ती हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

प्राचीन काल से ही, ज्ञान और मतलब की खोज में हमे वही मूलभूत प्रश्न मिलते हैं - हम कौन हैं? हम कहां से आए हैं? हम यहां क्यों आए हैं? हमें अपना आचरण कैसे करना चाहिए? क्या मृत्यु के बाद जीवन है? हमारे पूर्वजों के मन में ये सवाल थे और आज भी हम यही सवाल पूछते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर की खोज एक बुद्धिमान व्यक्ति को इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि चेतना, जड पदार्थ से श्रेष्ठ है, एवं निश्चय ही एक ऐसा पूर्ण (परम) स्त्रोत होना चाहिए जहां से ब्रह्मांड के भीतर और उससे परे का सब कुछ उत्पन्न होता है।

यहां श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे स्वयं ही हर वस्तु के एकमात्र कारण हैं और कुछ भी उनसे श्रेष्ठ नहीं है। वे ब्रह्मांड और सभी जीवित प्राणियों के कुल जोड़ हैं, लेकिन परम पुरुष के रूप में वे सभी वस्तुओं से अलग हैं।

सभी योग पद्धतियों में हम पाते हैं कि मंत्रों के जाप की अत्याधिक अनुशंसा की जाती है और संभवतः कोई भी मंत्र ॐ, या ओमकार से अधिक नहीं जपा जाता। इस ओमकार को अक्षरों (आ, ऊ और अं) के सर्वोच्च संयोजन के रूप में वर्णित किया गया है और इस प्रकार यह प्राथमिक वैदिक मंत्र है। यहां श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे ही वैदिक मंत्रों में पाए जने वाले ॐ हैं, इसलिए, ॐ का जप करते समय श्री कृष्ण पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए। इस बात के समर्थन में ऋग्वेद में इस प्रकार कहा गया है -

ॐ इत्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्टंनाम यस्माद् उच्चार्यमाण ।
एव संसार-भयात् तारयति तस्मादुच्यते तार इति ॥

ॐ आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो
सुमतिं भजामहे ॐ तत् सत् ।

ततोऽभूत् त्रिवृदोंकारो योऽव्यक्त प्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिंगं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥

जो ॐ का जप करता है, जो की ब्रह्मज्योति का निकटतम रूप है, वह ब्रह्मज्योति की ओर जाता है। यह एक व्यक्ति को भौतिक दुनिया के भय से मोक्ष प्रदान करता है। इसलिए इसे तारक-ब्रह्मन कहते हैं।

हे विष्णु/कृष्ण, आपका स्वयं-प्रकट नाम, ॐ, परिज्ञान का शाश्वत रूप है। भले ही इस नाम को सुनने की महिमा के बारे में मेरा ज्ञान अधूरा है, फिर भी, इस नाम के उच्चारण के अभ्यास से, मैं पूर्ण ज्ञान प्राप्त करूँगा।

वे जिनके पास अव्यक्त शक्तियां हैं और जो पूरी तरह से स्वतंत्र हैं वे ओंकार के स्पंदन को प्रकट करते हैं, जिससे वे खुद को ही इंगित (सूचित) करते हैं। वे स्वयं को ब्रह्मन, परमात्मा एवं भगवान् के तीन रूपों में व्यक्त करते हैं। (ऋग्वेद १.१५६.३)

अब यह प्रश्न उठ सकता है की ॐ श्री कृष्ण से अलग नहीं है (ॐ श्री कृष्ण का ही रूप है) तो महामंत्र का जप करने की क्या आवश्यकता है? महान आचार्य जैसे की जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, भक्तिविनोद, सरस्वती ठाकुर, स्वामी भक्तिरक्षक श्रीधर, भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद एवं अन्य सभी इस बात से

सहमत है की ॐ भौतिक बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करने तक सहायक है। लेकिन महामंत्र का जाप हमे मोक्ष से आगे ले चलता है, और हममे श्रीकृष्ण के लिए स्वाभाविक प्रेम जागृत करता है। मंत्रों की तात्त्विकी विज्ञानं में यह कहा गया है कि 'ॐ' श्रीकृष्ण की बांसुरी से उत्पन्न होता है; उसके बाद यह गायत्री मंत्र के रूप में प्रकट होता है, फिर वेद, वेदांत और श्रीमद्भागवतम् के रूप में प्रकट होता है। श्रीमद्भागवतम् के अंतिम श्लोक में महामंत्र के जप की अनुशंसा की गई है।

नाम-सङ्कीर्तनं यस्य सर्व पाप प्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःख शमनस् तं नमामि हरिं परम् ॥

महा-मंत्र का जाप हमें सभी अवांछनीय आदतों, सभी बुरे लक्षण, और सभी दुःखों से छुटकारा दिला सकता है। महा-मंत्र का जाप करें! और कुछ भी आवश्यक नहीं है। इसे अपनाइए! महा-मंत्र का जप करें और कलियुग के इस अंधकारमय युग में अपने सच्चे जीवन को व्यापक आस्तिकता के संकल्प के साथ शुरू करें। आइए हम सभी श्रीकृष्ण को नमन करें। (श्रीमद्भागवतम् १२.१३.२३)।

कोई भी ॐ का जप कर सकता और सभी को निश्चित रूप से महा-मंत्र का जप करना चाहिए। जो भी व्यक्ति एक आध्यात्मिक गुरु के मार्गदर्शन में महा-मंत्र का जप करते हैं वे निश्चित रूप से आत्म-साक्षात्कार के फल का आस्वादन करेंगे।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥७-१४॥

मेरी दैवी शक्ति, जिसके अंतर्गत त्रिगुणात्मक भौतिक प्रकृति है, इसे परास्त करना अत्यंत ही कठिन है। किन्तु जो लोग मेरी शरण में आते हैं, वे इसे पार कर सकते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरंभावमाश्रिताः ॥७-१५॥

मूर्ख, सबसे नीच, जिनका ज्ञान भ्रम से आच्छादित है, और जो लोग अधार्मिक कार्यों में लगे रहते है - इन तरह के अधर्मी व्यक्तियां कभी भी मुझ पर समर्पण नहीं करते।

चतुर्विधा भजन्ते मांजनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७-१६॥

हे भरतश्रेष्ठ! चार प्रकार के सौभाग्यशाली व्यक्ति मुझे पूजते हैं - वे जो दु:खी हैं, जो जिज्ञासु हैं, जो धन चाहते हैं, और वे जो आत्म-साक्षात्कार की इच्छा रखते हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥७-१७॥

इनमें से, जो आत्म-साक्षात्कार की इच्छा रखता है वह श्रेष्ठ है। वह सदा मेरे विचारों में लीन रहता है और भक्ति-योग में लगा रहता है। मै उसे बहुत प्रिय हूँ और वह मुझे बहुत प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥७-१८॥

निस्संदेह वे सभी धार्मिक हैं, फिर भी मैं आत्मबोध-युक्त ज्ञानी को अपना स्व मानता हूँ, क्योंकि उसका मन अपने अंतिम लक्ष्य के रूप में मुझ में ही पूर्ण रूप से अचल है।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ श्रीकृष्ण अपनी आंतरिक शक्ति योग-माया और महा-माया के बीच अंतर बताने के लिए अपनी माया शक्ति के बारे में बताते हैं, जिसे महा-माया भी कहा जाता है। महा-माया वह भौतिक त्रिगुणात्मक शक्ति है, जो सभी जीवित प्राणियों को इस भौतिक अस्तित्व के अनुकूल बनाती है, एवं उन्हें इस संसार से बांधे रखती है। भगवद्गीता के अध्याय १४ में प्रकृति के इन तीन गुणों के विषय पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

श्री कृष्ण कहते हैं कि बद्ध-जीवों के लिए भौतिक प्रकृति के इन गुणों से पार होना अत्यंत ही कठिन होता है, लेकिन जो भक्ति-योग में श्रीकृष्ण की शरण लेते हैं वे आसानी से इसको पार कर जाते हैं। यह निम्नानुसार अनुशंसित है -

अकाम: सर्व-कामो वा मोक्ष-काम उदार-धीः ।
तीव्रण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

> चाहे कोई अकाम हो या सभी कामनाओं से भरपूर हो, या मोक्ष की इच्छा रखता हो - हर किसी को भक्ति-योग द्वारा परम पुरुष का शरण लेना चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् २.३.१०)

श्रीकृष्ण आगे बताते हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति (व्यथित, जिज्ञासु, धन चाहने वाले और आत्म-साक्षात्कार की इच्छा रखने वाले) उनका आश्रय लेते हैं, लेकिन, श्रीकृष्ण कहते हैं की इनमें से जो ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार की खोज में है वह सबसे श्रेष्ठ हैं।

धन के लिए, जिज्ञासा से या दुःख के कारण जो श्रीकृष्ण की शरण में आते हैं, यह अक्सर देखा जाता है कि ऐसे व्यक्ति फिर से अपनी सामान्य गतिविधियों को शुरू कर देते हैं। जो लोग ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार के लिए श्रीकृष्ण के पास आते हैं, वे वास्तव में भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं और शाश्वत परम सुख को प्राप्त करते हैं। अंततः वे कृष्ण के परम धाम को प्राप्त करते हैं एवं इस जन्म और मृत्यु की संसार में कभी वापस नहीं लौटते हैं, जो कि अध्याय १५ में बताया जाएगा। इसलिए आत्म-साक्षात्कार के साधक जो श्रीकृष्ण का आश्रय लेते हैं और अपने सभी विचारों और कर्मों को श्रीकृष्ण में आत्मसात कर लेते हैं, उन्हें धार्मिक व्यक्तियों (पुण्यात्माओ) में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७-१९॥

अनेक जन्मों के पश्चात, जो ज्ञानवान है, वह मुझ पर आत्मसमर्पण करता है। वह जान लेता है कि वासुदेव ही समस्ती के मूल स्रोत हैं। ऐसे महान व्यक्तित्व बहुत ही दुर्लभ होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥७-२०॥

जिनकी बुद्धि विभिन्न भौतिक इच्छाओं के कारण मारी गई है वे अन्य देवताओं की शरण में जाते हैं। अपने स्वभाव के अनुसार वे विभिन्न अनुष्ठान करते हैं।

यो यो यां यां तनुंभक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धांतामेव विदधाम्यहम् ॥७-२१॥

व्यक्ति जिस देवी-देवता के स्वरूप की आस्था के साथ पूजा करने की इच्छा रखता है, मैं उस विशेष रूप के लिए उसकी श्रद्धा को मजबूत बनाता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥७-२२॥

जो श्रद्धा के साथ उस विशेष रूप की पूजा करता है, वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति मेरी अनुमति के कारण ही प्राप्त करता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥७-२३॥

परन्तु, अल्पबुद्धि व्यक्तियों द्वारा प्राप्त ये परिणाम अस्थायी होते हैं। जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के निकट पहुँचते हैं, किंतु मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

एक ही जीवनकाल में अपने आप को श्रीकृष्ण को समर्पित कर देना कदाचित संभव नहीं है। वस्तुत: श्रीकृष्ण यह कहते हैं की अनेक जन्म-जन्मान्तर में ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही कोई व्यक्ति वासुदेव (श्रीकृष्ण) को ही सर्वस्व का उद्गम जानते हुए उन पर आत्मसमर्पण करता है। सचमुच ही ऐसे व्यक्ति बहुत ही दुर्लभ होते हैं - स महात्मा सुदुर्लभः।।

वस्तुत: 'महात्मा' शब्द का अर्थ है एक महान व्यक्तित्व या एक महान कृष्ण-भक्त, परन्तु, मात्र लोगों के विचारहीन समर्थन द्वारा महात्मा का मोहर लगवालेने से कोई महात्मा नहीं बन जाता। महात्मा होने के लिए कुछ आवश्यक लक्षण व्यक्ति में होने चाहिए, और जिनमें ये लक्षण देखे जाएं, केवल उनका ही महात्मा शब्द द्वारा सम्मान किया जाना चाहिए। इन लक्षणों का चैतन्य चरितामृत में इस प्रकार उल्लेख है -

कृपालु अकृत-द्रोह सत्य-सार सम
निदोष वदान्य मृदु सुचि अकिञ्चन ।
सर्वोपकारक शांत कृष्णैक-शरण
अकाम अनीह स्थिर विजित-षड़-गुण ॥

मित-भुक अप्रमत्त मानद अमानी ।
गम्भीर करुण मैत्र कवि दक्ष मौनी ॥

> कृष्ण के भक्त सदैव दयालु, विनम्र, सत्यप्रिय और सभी के लिए समान, दोषरहित, उदारचरित, सौम्य और स्वच्छ होते हैं। वे अकिंचन (निर्धन) होते हैं, और सभी के लिए कल्याणकारी कार्य करते हैं। वे शांत होते हैं, कृष्ण पर आत्मसमर्पित होते हैं, और इच्छा रहित होते हैं। वे भौतिक संपत्ति के अधिग्रहण से उदासीन रहते हैं, और कृष्ण की भक्ति में दृढ़ रहते हैं। वे पूरी तरह से छह बुरे गुणों को नियंत्रित करते हैं - काम, क्रोध, लालच आदि। वे केवल उतना ही खाते हैं जितना आवश्यक हो, और वे झूठे अहंकार के नशे से रहित होते हैं। वे सम्मानजनक, गंभीर, करुणामय और बिना झूठी प्रतिष्ठा के होते हैं। वे मित्रतापूर्ण, काव्यगत, निपुण, और मौनी होते हैं। (चैतन्य चरितामृत, मध्य-लीला २२.७८-८०)

समकालीन समय में भक्ति आंदोलन की लोकप्रियता में शिव, गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी आदि जैसे कई देवी-देवताओं की पूजा शामिल हो गई है, हालांकि, भगवद्गीता के अनुसार, विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा श्रीकृष्ण के समान नहीं, और ये किसी को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर कोई सहायता नहीं करता। भक्ति-योग केवल कृष्ण के लिए है। भक्ति, कृष्ण और उनके भक्तों के बीच पारस्परिक संबंध है, एवं भक्ति अन्य देवताओं की पूजा के साथ असंगत है।

ऐसा नहीं है कि अन्य देवी-देवताएं मिथ्या हैं, लेकिन वे किसी को भौतिक बन्धनों से मुक्ति प्रदान नहीं कर सकते हैं। कृष्ण जानते हैं कि सभी जीवित प्राणियों की सर्वोच्च भलाई के लिए क्या आवश्यक है और इसलिए वे कहते हैं कि देवताओं की पूजा करना नासमझी है।

यह भी कहा जा सकता है कि जो लोग अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण की ही पूजा करते हैं, क्योंकि विश्व-संबंधी मामलों के प्रबंधन के लिए वे कृष्ण के प्रतिनिधि हैं। इस तरह से अन्य देवी-देवताओं की पूजा भी श्रीकृष्ण की ही पूजा है, किंतु इनमें मोक्ष का फल प्राप्त नहीं होता। केवल कृष्ण को ही मुक्ति-पद या मुक्ति के दाता - मुकुंदा, कहा जाता है। पद्म-पुराण में शिवजी कहते हैं -

मुक्ति प्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।

निस्संदेह, विष्णु (कृष्ण) सभी के लिए मुक्ति के एकमात्र दाता हैं। (पद्म-पुराण ६.२५३.१७६)

जब जन्म और मृत्यु के चक्र से निकलने के लिए केवल श्रीकृष्ण पर आत्मसमर्पण ही एकमात्र आश्रय है, तो इसी में समझदारी है कि व्यक्ति को श्रीकृष्ण का आश्रय लेना चाहिए और अन्य देवी-देवताओं की पूजा करना छोड़ देना चाहिए।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥७-२४॥

मेरा स्वभाव शाश्वत, सर्वोत्तम और अविनाशी है। तदापि अल्पबुद्धि इसे समझ नहीं सकते हैं, और इस प्रकार मेरी पहचान करते हैं कि किसी अवैयक्तिक तत्त्व ने अब एक भौतिक (अशाश्वत) स्वरूप धारण कर लिया है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥७-२५॥

मैं सभी के लिए प्रकट नहीं होता। मैं अपनी योग-माया शक्ति से प्रच्छन्न हूँ, और इसलिए मूर्ख मुझे शाश्वत और अजन्मे के रूप में नहीं पहचान सकते।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ श्रीकृष्ण अपनी स्थिति काफी स्पष्ट रूप से बताते हैं। वे अनन्त, अजन्मे, सर्वोत्तम और अविनाशी हैं। वे यह भी कहते हैं कि जो लोग मूर्ख हैं, वे दुनिया में उनके आविर्भाव को अवैयक्तिक ब्रह्मज्योति (ब्रह्मन) का अस्थायी भौतिक रुप मानते हैं। ऐसे पथभ्रष्ट दार्शनिक मानते हैं कि श्रीकृष्ण का शरीर भौतिक है और कृष्ण, अन्य जीवित प्राणियों की तरह ही ब्रह्म-ज्योति से प्रकट हुए हैं। भगवद्गीता के अध्याय १४ में, कृष्ण बताते हैं कि वे स्वयं ही ब्रह्म-ज्योति के एकमात्र स्रोत हैं और सभी जीवित प्राणी उन्ही से उत्पन्न होते हैं। श्रीकृष्ण अपने आप को सभी के लिए व्यक्त या प्रकट नहीं करते - विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो उनसे ईर्ष्या या द्वेष की भावना रखते हैं। ईर्ष्यालु के लिए कृष्ण अपनी आध्यात्मिक शक्ति, 'योग-माया' द्वारा आच्छादित हो जाते हैं, और साथ ही साथ ईर्ष्यालु जन्म और मृत्यु के चक्र में 'महा-माया' द्वारा आच्छादित हो जाते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥७-२६॥

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान एवं भविष्य को जानता हूँ। मैं समस्त जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥७-२७॥

हे शत्रु विजयी, सृष्टि के आरम्भ में सभी जीव इच्छा और घृणा के द्वन्द्वों से व्यग्र होकर जन्म लेते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥७-२८॥

यद्यपि, जो लोग पुण्य कार्य करते हैं वे सभी प्रतिक्रियाओं से शुद्ध हो जाते हैं - वे द्वन्द्वों के भ्रम से मुक्त हो जाते हैं और दृढ़-निष्ठा से मेरी पूजा करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् ॥७-२९॥

जो लोग मेरा आश्रय लेकर वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त होने का प्रयास करते हैं, वे परम सत्य, व्यक्तिगत आत्मा और कर्म व कर्म की प्रतिक्रिया के नियमों को जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥७-३०॥

जो मुझे भौतिक द्रव्य के नियंता, देवताओं के नियंता एवं सभी यज्ञो के भोक्ता के रूप में जानते है – मृत्यु के समय अपने मन को मुझ पर केन्द्रित करके वे मुझे जान जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

वैदिक साहित्य के बाहर भगवद्गीता का ज्ञान नहीं पाया जाता। गीता के सम्मुख संसार के किसी भी साहित्यिक स्रोत की तुलना हो ही नहीं सकती। श्रीकृष्ण

की दिव्यता को इतनी स्पष्टता और निर्भीकता के साथ बताया गया है कि योग के एक गंभीर छात्र के मन में कोई भी संदेह नहीं रह सकता। श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह नित्य, अजन्मे, सर्वोत्तम और अविनाशी हैं। वे भूत, वर्तमान और भविष्य को जानते हैं; वे सभी जीवों को जानते हैं और जो लोग उन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, यह जानते हुए कि वे ही हर वस्तु के नियंता हैं, उन्हें इस भौतिक जगत में फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए ज्ञान-विज्ञान योग नामक सातवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ८

तारक-ब्रह्म योग

अर्जुन उवाच ।
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥८-१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥८-२॥

अर्जुन ने पूछा - हे पुरुषोत्तम, ब्रह्मन क्या है? स्व (आत्मा) क्या है? कर्म क्या है? यह भौतिक सृष्टि क्या है? देवतागण कौन हैं? यज्ञ के स्वामी कौन हैं और वे हमारे देह में कैसे निवास करते हैं? हे मधुसूदन, जो मृत्यु के समय आत्म-नियंत्रित होते हैं वे आपको कैसे जान पाते हैं?

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन अपने अत्यंत प्रिय मित्र और शुभचिंतक श्रीकृष्ण से, योग के संजीदा छात्र के लिए एवं इस विषय पर, जीवन की परिपूर्णता की कामना रखनेवाले किसी भी व्यक्ति की जानकारी के लिए, कई महत्वपूर्ण प्रश्न पूछते हैं। अध्यात्म के विषय पर लिखे गए साहित्यों में सबसे ज्यादा विद्वत्तापूर्ण साहित्य वेदांत-सूत्र इस वाक्य के साथ शुरू होता है, ॐ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा - 'अब इस मनुष्य जीवन में व्यक्ति को ब्रह्मन (परम सत्य) की जिज्ञासा करनी चाहिए'। वास्तव में मनुष्य जीवन, ऐसे प्रश्नों की जानकारी के लिए बना है जैसा की अर्जुन ने पूछे हैं, और योग के परम गुरु, श्रीकृष्ण, अब उनका उत्तर सबसे संक्षिप्त रूप में देंगे। मनुष्य जीवन का उद्देश्य श्रीमद्भागवतम् में भी कुछ इस प्रकार वर्णित किया गया है -

कामस्य नेन्द्रिय-प्रीतिर् लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्व-जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

जीवन का उद्देश्य कभी भी इंद्रियों को तृप्त करने की इच्छा की ओर नहीं होना चाहिए। एक व्यक्ति को केवल स्वस्थ जीवन की कामना करनी चाहिए, क्योंकि मानव जीवन परम सत्य की खोज के लिए बना है। किसी भी व्यक्ति के कार्यकलाप का लक्ष्य कुछ और नहीं होना चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् १.२.१०)

श्रीभगवानुवाच ।
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥८-३॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया - ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मन अविनाशी परम-सत्य है, और आत्मा ही जीव का मूल आध्यात्मिक स्वभाव है। कर्म वह है जो जन्म, जीवन की अवधि और मृत्यु का कारण है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥८-४॥

हे नरश्रेष्ठ, भौतिक प्रकृति वह है जो निरंतर परिवर्तनशील है, और यह भौतिक जगत परम पुरुष का ही विराट स्वरूप है। मैं ही सभी जीवों में स्थित, सभी यज्ञो का स्वामी हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥८-५॥

मृत्यु के समय, जो विशेष रूप से मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह मेरी दिव्य प्रकृति को प्राप्त करता है - इसमें कोई संदेह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥८-६॥

हे कुन्तीपुत्र, मृत्यु के समय व्यक्ति जिस भाव का स्मरण करता है, निश्चित ही वह उसी भाव को प्राप्त करता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥८-७॥

अतएव, हे अर्जुन! तुम सदैव मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। अपने मन एवं बुद्धि को मुझपर समर्पित करो, और इस तरह तुम निश्चित रूप से मुझे प्राप्त करोगे।

~ अनुवृत्ति ~

श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रश्नों का प्रासंगिक उत्तर देते हैं और यदि कोई श्रीकृष्ण को योग के परम-गुरु के रूप में स्वीकार करता है, जोकि वे सचमुच हैं, तो वह

शीघ्र ही सबसे अनमोल ज्ञान प्राप्त करता है। उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए अटकलबाजी या 'परीक्षण और त्रुटि' की प्रक्रिया का उपयोग महज़ मूल्यवान समय को बर्बाद करना है। वास्तव में, अटकलों और प्रयोग में इतना समय बर्बाद होता है कि सदियों के बाद भी ऐसी प्रक्रियाएं जीवन के अर्थ का उचित ज्ञान देने में निष्फल रही हैं। हर कोई मृत्यु के मुंह में जा रहा है, और इनमें से अधिकांश जीवन के सबसे बुनियादी प्रश्नों के उतर जाने बगैर ही मर रहे हैं। हालाँकि, अनादि काल से, श्रीकृष्ण के पास इनके उत्तर हैं और उन्हें भगवद्गीता में यहां प्रस्तुत किया गया है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी जीवित प्राणी ब्रह्मन हैं - परम सत्य की आध्यात्मिक ऊर्जा का हिस्सा हैं - शाश्वत, वैयक्तिक, अविनाशी और अपरिवर्तनीय हैं। परन्तु, इस भौतिक दुनिया में हर किसी के शरीर की मृत्यु होती है। कोई छूट नहीं हैं। लेकिन जिनका मन और बुद्धि श्रीकृष्ण पर दृढ़ रहता है, वे इस भौतिक संसार में दोबारा जन्म नहीं लेते, बल्कि कृष्ण की अपनी दिव्य प्रकृति को प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण स्वभाव से ही सत्-चित्-आनंद हैं, यानि के वे नित्य हैं, ज्ञान में पूर्ण हैं एवं आनंद से भरपूर हैं। मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण करने से व्यक्ति उस दिव्य प्रकृति को प्राप्त कर लेता है और तुरंत भौतिक जगत एवं जन्म और मृत्यु के ग्रहों से परे होकर कृष्ण के धाम पहुंच जाता है। जैसा कि कृष्ण अध्याय १५ में बताएंगे, जो उनके परम धाम को प्राप्त करता है वह इस भौतिक संसार में दोबारा नहीं लौटता।

जब हम संसार की बात करते हैं, तो हम वास्तव में पुनर्जन्म की ही बात करते हैं। यद्यपि, कई समुदायों में पुनर्जन्म एक लोकप्रिय धारणा बनती जा रही है, लेकिन अधिकांश भाग में इसे बहुत गलत समझा जाता है। बहुतों के लिए पुनर्जन्म का अर्थ है, मनुष्य के रूप में ही जन्म लेते रहना, लेकिन यह सत्य नहीं है। मनुष्य जीवन अत्यंत दुर्लभ है। ऐसा नहीं है की यह तेजी से एक के बाद एक आते रहता है। मनुष्य प्रजाति के ऊपर और नीचे सैकड़ों और हजारों अन्य जीवन की प्रजातियां हैं। इस जीवन के अपने कर्मों के अनुसार और मृत्यु के समय की अपनी अंतिम चेतना और मन की स्थिति के अनुसार, अगले जन्म का निर्धारण होता है।

मनुष्य से नीचे की प्रजातियों में, जैसे कि जानवर, जलीय जीव, कीट और पौधों में अत्यधिक अज्ञानता और पीड़ा होती है। मानवीय स्तर के ऊपर दैवी जीव और उनके स्वर्गिक सुख से भरे उच्च ग्रह हैं। तथापि, उच्च हो या निम्न, भौतिक

दुनिया में जीव के सभी स्थान अस्थायी ही होते हैं। भौतिक ब्रह्माण्ड में शाश्वत (सार्वकालिक) नरकवास या शाश्वत सुख कहीं नहीं पाया जाता। इस दुनिया में कुछ भी चिरस्थायी नहीं है। केवल कृष्ण का धाम ही आनंद एंव पीड़ा के द्वंद्वों से परे है।

कृष्ण ऊपर के ५ वें श्लोक में कहते हैं, अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् - जो मृत्यु के समय उन्हें याद करता है वह उनके पारलौकिक स्वभाव को प्राप्त करता है। जीवन के अंतिम समय में कृष्ण को याद करना ही सच्ची सिद्धि है, और उन्हें भूलना सबसे बड़ी भूल है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में कहा गया है -

स हानिस् तन्महाच्छिद्रम् स मोह: स च विभ्रमः ।
यन् मुहूर्तम् क्षणम्वापि वासुदेवम् न चिन्तयेत् ॥

एक क्षण के लिए भी यदि श्रीकृष्ण का स्मरण चूक जाए, तो वही सबसे बड़ा नुकसान, सबसे बड़ा भ्रम और सबसे बड़ी विसंगति है। (विष्णु-धर्मोत्तरा पुराण १.१६)

यद्यपि, इस संसार के अनुभव से हम जानते हैं कि मृत्यु अक्सर दर्द, भ्रम और स्मृति की भ्रांति समेत ही होती है। इसलिए, ऐसा लगता है कि मृत्यु के समय श्रीकृष्ण को याद करना कोई आसान काम नहीं होता। मृत्यु किसी भी समय, बिना किसी सूचना के या नींद के दौरान भी तेजी से आ सकती है, अत: इस तरह श्रीकृष्ण का स्मरण करने में बाधा होती है। इस संबंध में कुलशेखर आलवार, अपने मुकुंद-माला-स्तोत्रम् में लिखते हैं -

कृष्ण त्वदीय पद पङ्कज पञ्जरान्तम् ।
अद्यैव विशतु मे मानस राज हंसः ॥
प्राण प्रयाण समये कफ वात पित्तैः ।
कण्ठावरोधनविधौ स्मरण कुतस्ते ॥

हे कृष्ण, कृपया मुझे शीघ्र ही मृत्यु दें, ताकि मेरे मन का हंस आपके चरण-कमल के तने से घिर जाए। अन्यथा मेरी अंतिम सांस के समय, जब मेरा गला घुट रहा होगा, तब आपका स्मरण करना कैसे संभव होगा? (मुकुंद-माला-स्तोत्रम् ३३)

भक्ति-योगी के लिए श्रीकृष्ण उनके सभी प्रयास, साधना और सेवाओं को ध्यान में रखते हैं। यदि भक्ति-योगी मृत्यु के समय श्रीकृष्ण को याद करने में असमर्थ हो जाये, तभ भी श्रीकृष्ण उन्हें अवश्य याद करेंगे। श्रीकृष्ण कभी भी किसी भी परिस्थिति में भुलते नहीं हैं, अत: वे अपने भक्त को सहजता से मृत्यु के शिकंजे से मुक्त कर देते हैं। वराह पुराण में श्रीकृष्ण स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं -

यदि वितादि दोषेण मद्भक्तो मां च न स्मरेत् ।
अहं स्मरामि मद्भक्त: नयामि परमां गतिम् ॥

यदि मेरे भक्त मृत्यु के समय शरीर में हो रहे अत्याधिक विघ्न के कारण मुझे याद नहीं कर पाते हैं, तो उस समय मैं अपने भक्त को याद करूंगा और उन्हें आध्यात्मिक जगत ले जाऊंगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुष दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८-८॥

हे पार्थ, जो योग का अभ्यास करता है और बिना अपने पथ से भटके, मन को केंद्रित करता है, एवं दिव्य परम-पुरुष पर ध्यान करता है, निश्चित ही वह उन्हें प्राप्त करता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयंसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥८-९॥

व्यक्ति को परम-पुरुष पर ध्यान करना चाहिए जो सर्वज्ञ, पुरातन, एवं परम नियन्ता हैं, जो परमाणु के कण से भी छोटे किंतु समस्त जगत के मूल-आधार हैं, जिनका रूप अचिन्त्य है, जो सूर्य की भांति कान्तिमान, और इस भौतिक प्रकृति से परे हैं।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८-१०॥

मृत्यु के समय, जो व्यक्ति योग शक्ति के प्रभाव से भौंहों के बीच प्राण-वायु को समेटकर, उनका (परम-पुरुष का) अविचलित मन से स्मरण करता है, वह निश्चित रूप से दिव्य परम पुरुष के निकट पहुंचता है।

~ अनुवृत्ति ~

यहां योग और ध्यान का वर्णन किया गया है। हालांकि, वे अवैयक्तिक या स्वकेंद्रित प्रक्रियाएं नहीं हैं। ध्यान परम-सत्य, श्रीकृष्ण पर करना चाहिए, अमूर्त कल्पनाओं पर नहीं कि हम स्वयं ही यथार्थ के कुल-योग के समकक्ष हैं, कि हम सर्वज्ञ हैंम या हम सर्वोच्च नियंत्रक हैं। ऐसी प्रक्रियाएं ध्यान नहीं होती, बल्कि स्वयं को धोखा देना है और यह मोक्ष या शाश्वत आनंद की ओर कभी नहीं ले जाती।

श्लोक १० में, श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगिक ध्यान (अष्टांग और कुंडलिनी-योग) में, व्यक्ति को भौंहों के क्षेत्र में अपने प्राणवायु को खींचना चाहिए। यह आज्ञा-चक्र के स्थान को इंगित करता है। शरीर में स्थित सात चक्र हैं जो मानव चेतना के प्राथमिक आसन होते हैं। चेतना पूरे शरीर में व्याप्त है, लेकिन कहा जाता है कि यह सात चक्रों में से एक में केंद्रित है - मूलाधार-चक्र (जननांग के आधार पर स्थित), स्वाधिष्ठान-चक्र (रीढ़ की हड्डी के आधार पर स्थित), मणिपूर-चक्र (नाभि क्षेत्र में स्थित), अनाहत-चक्र (हृदय में स्थित), विशुद्ध चक्र (गले में स्थित), आज्ञा-चक्र (भौंहों के बीच स्थित) और सहस्त्रार-चक्र (शीर्ष के उपर की छोड़ पर स्थित)।

जब चेतना निचले तीन चक्रों में स्थित होती है, तो व्यक्ति खाने, सोने, संभोग करने एवं बचाव करने की जानवरों की प्रवृत्ति में तल्लीन होता है। जब चेतना ऊपरी चक्रों में स्थित होती है, तो आध्यात्मिक संस्कृति की सूक्ष्म भावनाओं और अंततः मोक्ष की ओर प्रगति होती है। ध्यान में चेतना को एक चक्र से दुसरे चक्र में सुषुम्ना-नाड़ी नामक एक सूक्ष्म मार्ग के द्वारा उठाया जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगी को अपनी चेतना को आज्ञा-चक्र में लाकर स्तिथ करना चाहिए, कभी-कभी इसे योगी की तीसरी आंख के रूप में जाना जाता है। यहाँ योगी अपनी अंतिम तैयारी करता है और अंत में सुषुम्ना-नाड़ी के माध्यम से चेतना को सहस्त्रार-चक्र तक उठाता है और वहां से योगी अपने भौतिक शरीर का त्याग कर देता है । यदि अष्टांग-योगी या कुण्डलिनी-योगी, आज्ञा-चक्र में ध्यान केंद्रित करते हुए, श्रीकृष्ण को ध्यान का उद्देश्य बनाते हैं, तो सहस्त्रार-चक्र को पार करने के बाद, वे कृष्ण के परम धाम को प्राप्त करते है। यद्यपि, यदि उक्त योगी श्रीकृष्ण को अपने ध्यान का उद्देश्य नहीं बनाते हैं, तो वह कुछ समय के लिए ब्रह्म-ज्योति में प्रवेश कर सकते हैं, लेकिन अंततः वे इस भौतिक दुनिया में वापस लौट आते हैं ।

योग की उपर्युक्त प्रक्रियाओं के लिए अतिमानवीय (दैविक) उद्यम चाहिए, और इस युग में सामान्य व्यक्ति के लिए, अधिकांश भाग में इसे कर पाना संभव नहीं है। अष्टांग-योग और कुण्डलिनी-योग का अभ्यास समाज से अलग पूर्ण एकांत में करना चाहिए, लंबे समय तक पूर्ण ब्रह्मचर्य और उपवास का पालन करना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसे योगी हिमालय की पर्वत गुफाओं या रेगिस्तानों में जाते थे। आज के योगी आधुनिक स्टूडियो व सोसाइटीयों में अपनी चेतना को चक्रों के माध्यम से, सहस्त्रार-चक्र तक बढ़ाने में असमर्थ हैं, क्योंकि उनमे एकांतवास और कड़ी दृढ़ संकल्प की कमी रहती है। इसलिए, भगवद्गीता निर्णायक रूप से भक्ति-योग की प्रक्रिया की अनुसंशा करती है जिसका अभ्यास हर किसी के द्वारा, हर जगह, श्रीकृष्ण पर ध्यान केंद्रित करके किया जा सकता है और परम सिद्धि की प्राप्ति की जा सकती है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि, चूंकि श्रीकृष्ण तृतीय पुरुष के स्थान से बोल रहे हैं, इसलिए वह स्वयं को ध्यान के उद्देश्य के रूप में संदर्भित नहीं कर रहे हैं और इसलिए इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि हमें श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिए। परन्तु, भक्ति-योग के एक महान आचार्य स्वामी बी. आर. श्रीधर जी महाराज के अनुसार, जब श्रीकृष्ण तृतीय पुरुष के स्थान से बोलते हैं, तब वह ध्यान के उद्देश्य के रूप में अपने विस्तृत स्वरूप परमात्मा (परम चेतना) को संदर्भित कर रहे हैं। जैसा कि पहले से ही दूसरे अध्याय में बताया गया है, श्रीकृष्ण स्वयं को परमात्मा के रूप में प्रकट करते हैं, जो सभी जीवित प्राणियों के हृदय में स्तिथ हैं। अतएव परमात्मा पर ध्यान का अर्थ है श्रीकृष्ण पर ही ध्यान करना।

जो लोग अपने हृदय में संदेह (अनर्थ) के कारण परम सत्य को व्यक्तिगत (व्यक्ति) रूप में नहीं समझ सकते, वे ब्रह्मन (ब्रह्म-ज्योति) के रूप में श्रीकृष्ण के अवैयक्तिक पहलू का ध्यान कर सकते हैं। लेकिन यह प्रक्रिया कठिन है और इसका परिणाम सीमित है, क्योंकि एक ब्रह्मन-अनुभूत योगी को भी दोबारा इस जन्म और मृत्यु के संसार में लौटना पड़ता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥८-११॥

संन्यास आश्रम में स्थित महान ऋषियों एवं वेदों के विद्वान ब्रह्मचर्य के व्रत को स्वीकार कर ब्रह्मन में प्रवेश करने के लिए ॐ का उच्चारण करते है। यह विधि अब मैं तुम्हे बताऊंगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥८-१२॥

व्यक्ति को अपने सभी इंद्रियों को वश में कर, हृदयस्थित मन पर एकाग्रता धारण कर, प्राण-वायु को भौंहों के मध्य स्तिथ कर, स्वयं को पूर्णतः योग की स्थिति में स्थापित करना चाहिए।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥८-१३॥

इस प्रकार, सर्वोत्कृष्ट एकाक्षर ॐ का जाप करते हुए और मेरा स्मरण करते हुए, जब कोई भौतिक शरीर का त्याग करता है, तब वह मेरा परम धाम प्राप्त करता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥८-१४॥

हे पार्थ, जो योगी अनन्य भाव से सदैव मेरा स्मरण करता है उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह सदैव मेरे साथ जुड़ा रहता है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥८-१५॥

जिन महापुरुषों ने मुझे प्राप्त कर लिया है वे कभी भी दुःखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में जन्म नहीं लेते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

~ अनुवृत्ति ~

योग की आधुनिक प्रणालियाँ, कम या अधिक मात्रा में, केवल शरीर की स्वस्थ स्थिति प्राप्त करने के लिए ध्यान केंद्रित करती हैं, लेकिन वास्तव में यह योग का उद्देश्य नहीं है। योग की प्रक्रिया का केवल एक ही लक्ष्य है - जन्म और मृत्यु के इस भवसागर को पार करना। निस्सन्देह, अवश्य ही एक से अधिक योग की प्रणालियां हैं, लेकिन योग के सभी संप्रदायों का एक ही लक्ष्य है - मोक्ष की प्राप्ति। जैसा कि पहले से ही पिछली टिप्पणियों में बताया गया है, ॐ मंत्र व्यक्ति को मुक्ति के चरण तक उठाती है। तथापि, यहां इस बात पर भी ध्यान दिया

जाना चाहिए कि मंत्रों के जप से पहले योग के विभिन्न अंगों का अभ्यास, जैसे कि इन्द्रियों को वश में रखना, और ब्रह्मचर्य का पालन करना, मंत्रों के प्रभावी होने के लिए आवश्यक हैं।

मंत्र इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न भौतिक सम्पर्कविकार के दोष को हृदय और मन से शुद्ध करते हैं। यदि कोई शुद्धिकरण के लिए प्रयास करता है, लेकिन साथ ही साथ इंद्रियों को नियंत्रित नहीं करता, तो यह वैसा ही है जैसे की एक तरफ आग को जलाना और दुसरी तरफ उस पर पानी डाल देना। इसलिए किसी भी रूप में योग का अभ्यास करने वालों के लिए अपने इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥८-१६॥

हे कुन्तीपुत्र! ब्रह्मलोक तक के सभी ग्रह जन्म और पुनर्जन्म के स्थान हैं, किन्तु जो मेरे पास पहुंच जाते हैं, वे फिर कभी जन्म नहीं लेते।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥८-१७॥

ब्रह्मा के एक दिन में एक हजार युग होता है, और उनकी रातें भी उसी अवधि तक रहती हैं।

अव्यक्ता व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥८-१८॥

ब्रह्मा के दिन की शुरुआत में, सभी वस्तुएं अव्यक्त अवस्था से व्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं। जब ब्रह्मा की रात्रि शुरू होती है, पुनः वे अव्यक्त हो जाते हैं ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥८-१९॥

हे पार्थ, सभी जीव बारंबार जन्म लेते हैं। जब ब्रह्मा की रात निकट आती है तब वे मुझमे समा जाते हैं, और ब्रह्मा के दिन के आगमन के साथ वे पुनः जन्म लेते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सुन विनश्यति ॥८-२०॥

परन्तु, इस अवस्था के परे एक और अव्यक्त अवस्था है जो शाश्वत है और अन्य सभी जीवों के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥८-२१॥

कहा जाता है कि यह अवस्था अव्यक्त एवं शाश्वत है, और इसे ही परम गंतव्य के रूप में बताया गया है, जिसके प्राप्ति के पश्चात कोई लौट कर नहीं आता। यही मेरा परम धाम है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥८-२२॥

हे पार्थ, वह परम पुरुष, जिसके भीतर सभी जीव स्थित हैं और जो संपूर्ण सृष्टि को व्याप्त करते है, वे केवल अनन्य भक्ति-योग द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

भौतिक ब्रह्माण्ड का सवोर्च लोक, सत्य-लोक के नाम से जाना जाता है, जो ब्रह्मा का धाम (निवास स्थान) है। उस लोक पर जीवन बहुत ही लंबा है - सत्य-लोक में एक दिन पृथ्वी के ४,२६०,०००,००० वर्षों के बराबर है। हालाँकि, वहाँ भी मृत्यु होती है। भौतिक जगत में कोई भी स्थान मृत्यु से मुक्त नहीं है।

ब्रह्मा के प्रत्येक दिन के अंत में ब्रह्मांड में आंशिक विनाश और ब्रह्मा के जीवन के अंत में ब्रह्मांड का सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। आंशिक विनाश को प्रलय कहा जाता है, और अंतिम विनाश को महा-प्रलय कहा जाता है। ब्रह्मांड के प्रत्येक वस्तु की एक शुरुआत और एक अंत होती है। सभी चीजें अस्तित्व में आती हैं और अंततः वे नष्ट हो जाती हैं। सृजन, सत्र (अवधि) और विनाश, ब्रह्मांड के तीन मूल चरण हैं, तब भी, भगवद्गीता सर्वनाश से संबंधित भविष्यसूचक दृष्टिकोण को, या "अंतिम समय" के परिदृश्य (जो कहता है कि अंत मे हम सभी का न्याय किया जाएगा) को नहीं मानता।

सृजन, पालन और विनाश के मुख्य देवता क्रमशः तीन गुणावतार, ब्रह्मा, महा-विष्णु और महेश (शिव) हैं। ब्रह्मा माध्यमिक सृष्टि की रचना करते है, महा-विष्णु सृष्टि के पालनकर्ता और शिव अपने डमरू से कंपन ध्वनि उत्पन्न करके, विनाश का कारण बनते हैं। ये गुणावतार, सभी अवतारों की उत्पत्ति के स्रोत (अवतारी) श्रीकृष्ण के विस्तृत स्वरूप के अंश हैं। आंशिक और पूर्ण विनाश की अवधि के दौरान, जीवआत्माएं महा-विष्णु के शरीर के भीतर निद्रावस्था में होते हैं, और फिर से ब्रह्माजी के दिन के आगमन पर प्रकट हो जाते हैं। यह प्रक्रिया ब्रह्मांडीय समयानुसार बार-बार दोहराया जाता है जब तक कि ब्रह्माजी अपने जीवन के अंत तक नहीं पहुंच जाते, जब पूरा ब्रह्मांड फिर से महा-विष्णु के शरीर में समा जाता है। भौतिक ब्रह्माण्ड, और सचमुच ऐसे अरबों एवं खरबों ब्रह्माण्डों की सृष्टि के लिए आवश्यक सभी वस्तुएं, महा-विष्णु द्वारा महत्तत्त्व (भौतिक तत्वों का समुच्चय) के रूप में प्रदान किया जाता है, और विनाश के समय फिर से यह ऊर्जा महा-विष्णु में लीन हो जाती है।

ऊर्जा न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है, क्योंकि यह कृष्ण की अपरा-प्रकृति - निम्न भौतिक ऊर्जा, के रूप में सदैव अस्तित्वमान रहती है। यह ऊर्जा निरंतर परिवर्तनशील, व्यक्त और अव्यक्त होती है, लेकिन अंततः यह कभी भी नष्ट नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण और उनकी सभी ऊर्जाएं (शक्तियां) शाश्वत हैं।

एक बार फिर से, कृष्ण द्वारा वही बात दोहराई जा रही है, कि उनका परम धाम भौतिक प्रकृति से परे है, शाश्वत रूप से प्रकट रहता है, जन्म और मृत्यु से परे है, और एक बार वहां जाने के बाद कोई भी व्यक्ति वापस नहीं लौटता। कृष्ण का वह परम धाम गोलोक वृंदावन है, और यह भक्ति-योग की प्रक्रिया से ही प्राप्य है। इस परम धाम का उल्लेख बृहद्भागवतामृतम् में इस प्रकार है -

गोलोक-नामोपरि सर्व-सीम-गो ।
वैकुण्ठतो देशविशेषशेखरः ॥
स च तद् व्रज-लोकानां श्रीमत्-प्रेमानुवर्तिना।
कृष्णे शुद्धतरेणैव भावेनैकेन लभ्यते ॥

इस भौतिक ब्रह्माण्ड से दूर, श्रीकृष्ण का सौन्दर्ययुक्त रमणीय निवास स्थान है, जिसे वैकुंठ के सर्वोच्च लोक, गोलोक वृंदावन के नाम से जाना जाता है। गोलोक केवल भक्ति-योग के माध्यम से उन्हें प्राप्त होता है, जो

व्रजवासीयों के नक्शेकदम पर चलते हैं, जिन्हें श्रीकृष्ण से शुद्ध प्रेम होता है। (ब्रहद्भागवतामृतम् २.५.७८-७९)

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥८-२३॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब मैं उन विभिन्न कालों को बताऊँगा, जिनमें इस संसार से प्रस्थान करने के बाद योगी मुक्ति या पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥८-२४॥

जो ब्रह्मज्ञानी हैं, वे अग्नि और ज्योति के पथ पर, शुक्लपक्ष में, या सूर्य के उत्तरायण की अवधी के उन छह मासों में, इस संसार से गुज़र जाने के बाद ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसंज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥८-२५॥

जो योगी धुएँ के पथ पर, रात्रि में, कृष्णपक्ष में, या सूर्य के दक्षिणायन की अवधि के छह महीनों में, इस संसार का त्याग करते हैं, वे चन्द्रलोक पहुंचते हैं, किन्तु वहाँ से पुनः लौट आते हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥८-२६॥

प्रकाश और अंधकार के इन दोनों मार्गों को इस संसार में स्थायी रूप में स्वीकार किया जाता है। एक मार्ग (प्रकाश का मार्ग) से व्यक्ति लौटकर नहीं आता, किन्तु दुसरे मार्ग (अंधकार का मार्ग) से वह पुनः लौटकर आता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥८-२७॥

जो योगी इन दोनो मार्गों को जानता है वह कभी व्यग्र नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन, हर समय योग में नियत रहो।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसुचैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥८-२८॥

यह जानते हुए, एक योगी वेदों के अध्ययन के माध्यम से, यज्ञ में आहुति देने से, तपस्या करने से, और परोपकार से प्राप्त किए गए सभी प्रकार के पुण्य परिणामों से परे हो जाता है। वह योगी परम सनातन धाम प्राप्त करता है।

~ अनुवृत्ति ~

भौतिक जगत में उच्च लोकों की प्राप्ति के लिए वेदों का अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानकार्य करना आवश्यक होता है। जो व्यक्ति इन कार्यों को करता है, उसका पुनर्जन्म उच्च लोकों में होता है, जहां वह एक लंबा जीवन व्यतीत करता है, जहा वह हजारों वर्षों तक भोग विलास का आनंद लेता है।

परन्तु, एक भक्ति-योगी को उच्च लोकों में भोग-विलास की कोई इच्छा नहीं होती है। वह यज्ञ, तपस्या आदि के सभी लाभों को श्रीकृष्ण पर आत्मसमर्पण करके उन्हें आसानी से प्राप्त कर लेता है। एक भक्ति-योगी को भौतिक शरीर को छोड़ने के लिए शुभ समय का चयन करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह सदैव श्रीकृष्ण की शरण में रहता है। जो कृष्ण के शरण में रहते है उनके लिए सब कुछ मंगलमय रूप से विहित होता है, जो उन्हें श्रीकृष्ण के नित्य धाम तक पहुंचने में सक्षम बनाता है।

लेकिन जो योगी भक्ति-योग में नहीं होता, वह ना तो श्री कृष्ण के नित्य धाम पहुंचता है और न वह आसानी से मृत्यु के पश्चात उच्च लोकों की प्राप्ति करता है। वास्तव में, योगी को अपने मृत्यु के समय का चयन करना होता है, ताकि वह अपने शरीर का त्याग सबसे मंगलमय समय में कर सके। उसे बुद्धिमानी से चयन करना होगा, अन्यथा फिर भूलोक में उसका पुनर्जन्म निश्चित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विशेषकर साधारण लोगों के लिए यह लगभग एक असंभव प्रस्ताव है। अतएव, केवल भक्ति-योगी ही निश्चित रूप से इसमें सफल होते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
तारकब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए तारक-ब्रह्म योग नामक आठवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ९

राजगुह्य योग

श्रीभगवानुवाच ।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥९-१॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - हे अर्जुन! चूँकि तुम ईर्ष्या से रहित हो, इसीलिए मैं तुम्हें सबसे गूढ रहस्य बताऊँगा। मैं इस ज्ञान और इसकी अनुभूति को समझाऊंगा, जिसे जानकर तुम संसार के सारे अमंगल से मुक्त हो जाओगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमंधचू सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥९-२॥

यह सभी विद्या में सर्वोपरी (राज-विद्या) है, समस्त रहस्यों में सर्वाधिक गोपनीय (राज-गुह्य) है। यह सबसे पवित्र और सबसे उत्कृष्ट है। धर्म का यह मार्ग प्रत्यक्ष रूप से समझा जा सकता है, और यह अभ्यास में सहज एवं अविनाशी है।

अश्रद्दधानाः पुरुषाधर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥९-३॥

हे शत्रु विजेता, जिन्हें धर्म के इस मार्ग पर श्रद्धा नहीं है, वे मुझे कभी प्राप्त नहीं कर सकते और वे जन्म एवं मृत्यु के निरंतर चक्र में पुनर्जन्म लेने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

जिस योग पद्धति को श्री कृष्ण सबसे बड़ा रहस्य या गुह्य मानते हैं, अब वे अर्जुन को इस विषय पर ज़ोर देकर व्याख्या करेंगे, ताकि अर्जुन के किसी भी शेष संदेहों को दूर किया जा सके। इसका उल्लेख पहले के अध्यायों में किया जा चुका है, लेकिन अब श्रीकृष्ण इसे निर्णायक रूप से स्पष्ट करेंगे। श्रीकृष्ण ही परम सत्य हैं, सृष्टि के कारण हैं, सभी जीवों की उत्पत्ति के स्रोत हैं, नियंत्रक हैं, ज्ञान का उद्देश्य हैं, मंत्र ॐ हैं, और बहुत कुछ भी हैं। जो इस तथ्य को अपने हृदयांतर में जानता है और इसी सैद्धान्तिक संप्रदाय में अपना सारा जीवन व्यतित करता है, वह निश्चित रूप से श्रीकृष्ण को प्राप्त करता है। यही सकारात्मक प्रोत्साहन है। श्रीकृष्ण द्वारा नकारात्मक प्रोत्साहन को भी समझाया गया है, कि जो लोग उन (श्रीकृष्ण) में दृढतापूर्वक नियत नहीं होते हैं, उन्हें जन्म और मृत्यु के इस चक्र में पुनर्जन्म लेना होगा।

श्लोक ३ में श्रीकृष्ण ने अश्रद्धधानः शब्द का प्रयोग किया है। यह उन लोगों को सूचित करता है जिनके पास भक्ति-योग के लिए दृढ़ संकल्प नहीं होता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति संसार के चक्र में बने रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे किसी "अनन्त नरक" (Eternal Hell) के लिए अभिशप्त हो जाते हैं, परन्तु सीधी भाषा में कहे तो, इसका अर्थ यह है कि वे मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर पाते।

सबसे पहले यह समझना अनिवार्य है कि श्रद्धा 'सांसारिक विश्वास' (Belief) नहीं होता, जो आमतौर पर किसी विशेष मत से जुड़ा होता है, जैसे कि यहूदी, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध या हिंदू मत। ईसाई आस्था, मुस्लिम आस्था, हिंदू आस्था, आदि का तात्पर्य विशेष आदर्शों, मिथकों, अंधविश्वासों और हठधर्मिताओं के एक समूह से है, लेकिन श्रद्धा इन सबसे अलग है।

श्रत् दधाति इति श्राद्धाः - जो सत्य और आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाता है, उसे श्रद्धा कहते हैं। भौतिक प्रकृति के प्रदूषण से मुक्त, आत्मानुभूती युक्त साधूओं की संगती के माध्यम से ही श्रद्धा विकसित होती है। ऐसी संगती से ही यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है कि श्रीकृष्ण की शरण लेने से और उन पर आत्मसमर्पण करने से अन्य सभी उद्देश्यों की पूर्ती हो जाती है। ऐसी श्रद्धा और दृढ़ निश्चय के बिना, व्यक्ति भक्ति-योग के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥९-४॥

मैं अपने अप्रकट रूप से पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त हूँ। सभी जीव मेरे सहारे पर हैं, लेकिन मैं उनके सहारे नहीं हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥९-५॥

तथापि सृष्टि की सभी वस्तुएँ मुझमें स्थित नहीं रहतीं। जरा मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त जीवों का मूल (स्त्रोत) एवं पालक हूँ, लेकिन मैं ना तो उनसे प्रभावित हूँ, न ही मेरी भौतिक प्रकृति से।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥९-६॥

यह समझने का प्रयास करो कि जिस तरह से प्रबल वायु विशाल आकाश के विस्तार में स्तिथ है, उसी तरह सभी जीव मुझमे स्तिथ हैं।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥९-७॥

हे कुन्तीपुत्र, ब्रह्मा के दिन के अंत में, सभी जीव मेरे भीतर प्रवेश करते हैं। और एक नये सृष्टि के आरम्भ मै, मैं फिर से उन्हें प्रकट करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥९-८॥

क्योंकि मैं भौतिक प्रकृति को नियंत्रित करता हूँ, मैं बारम्बार जीवित प्राणियों को प्रकट करता हूँ, जो असहाय रूप से पूरी तरह से अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रभाव में होते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९-९॥

हे धनञ्जय, ऐसे कर्म मुझे बांध नहीं सकते। मैं इन कमों के प्रति विरक्त और उदासीन रहता हूँ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥९-१०॥

हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में ही चर तथा अचर प्राणियों समेत जगत की सृष्टि करती है। प्रकृति के प्रभाव से ही जगत का लगातार सृष्टि एवं विनाश होता रहता है।

~ अनुवृत्ति ~

भौतिक जगत में हर कोई कर्म करता है और भौतिक प्रकृति के नियमों या कर्म के नियमों अनुसार सभी अपने अपने कर्मों के उत्तरदाई होते हैं। न्यूटन के

भौतिकी के तीसरे नियम में कहा गया है कि प्रत्येक क्रिया के लिए एक समान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है। संक्षिप्त कहीं अधिक जटिल है। 'एक आंख के लिए एक आंख और एक दांत के लिए एक दांत', यह कहावत भी कर्म और इसके परिणाम के नियमों को उचित ढंग से परिभाषित नहीं करता। कर्म, "एक के बदले एक" के सादृश्य से कही अधिक गहन और जटिल है। यह कहना पर्याप्त है कि जब भी कोई कर्म करता है तो वह स्वयं उसके परिणाम का उत्तरदायी होता है, चाहे उसका फल जो भी हो। जीवो का भौतिक प्रकृति पर कोई नियंत्रण नहीं है। इसलिए भौतिक प्रकृति को जीवों की शक्ति से श्रेष्ठ मानना चाहिए, क्योंकि जीवों का भौतिक प्रकृति पर कोई नियंत्रण नहीं होता। लोग प्रकृति का शोषण करने में माहिर हैं, किंतु वे इसके परिणामस्वरूप होने वाली प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित नहीं कर सकते हैं। दूसरी ओर जब श्रीकृष्ण कर्म करते हैं, तब उन्हें कोई कर्म की प्रतिक्रिया नहीं लगती, क्योंकि भौतिक प्रकृति सदा उनके नियंत्रण में ही होती है - ईश्वर: परम: कृष्णः।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥९-११॥

जब मैं मनुष्य रूप में प्रकट होता हूँ, तब मूर्ख मेरा उपहास करते हैं, क्योंकि वे सभी जीवों के सर्वोच्च नियंत्रक के रूप में मेरे दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥९-१२॥

उनकी सभी आकांक्षाएँ, कर्म और ज्ञान निरर्थक और निस्सार हैं। ऐसे व्यक्ति नीच एवं आसुरी स्वभाव को अपनाकर व्यग्र हो जाते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥९-१३॥

परन्तु, जो महापुरुष मेरे दिव्य प्रकृति का शरण ग्रहण करते हैं, वे मुझे सभी जीवों का अविनाशी स्रोत मानकर स्थिर मन से मेरी पूजा करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥९-१४॥

ये भक्ति-योगी सदैव मेरी महिमा गाते हुए, दृढसंकल्प से प्रयास करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥९-१५॥

कुछ, अपने आप को मुझसे अलग न मानते हुए, ज्ञान-यज्ञ के माध्यम से मुझे पूजते हैं। अन्य मुझे कई विविध रूपों में पूजते हैं, जबकि कई अन्य मेरे विश्व रूप (विराट रूप) की पूजा करते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

जो भगवद्गीता के संदेश का उपहास करते हैं, उन्हें मूढ या मूर्ख-मानसिकता-वाला कहा जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति, जब भगवद्गीता के ज्ञान के विषय-क्षेत्र का सामना करते हैं, तो वे निश्चित रूप से इससे सहमत होंगे, या कम से कम इससे आकर्षित होंगे। इस कारण से भगवद्गीता विश्व में आस्तिक विज्ञान पर सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला साहित्य है।

निस्संदेह नास्तिकता कोई नई घटना नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल से ही नास्तिकता के मत के लोग रहे हैं। आज, आधुनिक समय में नास्तिकता तर्कसंगत वाद-विवाद के बदले कट्टर-धार्मिक-हठधर्मिता की प्रतिक्रिया के रूप में अधिक प्रेरित है। दरअसल, कई बार नास्तिक लोगों के तर्क उतने ही तर्कहीन होते हैं जितने कि धार्मिक कट्टरपंथियों के। जब एक तर्कवादी के सामने एक तर्कसंगत विवरण प्रस्तुत किया जाता है, तो उसे इसका स्वीकार करने के लिए तैयार होना चाहिए, भले ही वह प्रस्ताव जहां भी ले जाए, भले ही वह उनके नास्तिक दुनिया के दृष्टिकोण को ही क्षीण बनाए। सत्य या विज्ञान के सच्चे जिज्ञासु की ऐसी ही मनोवृत्ति होनी चाहिए।

आधुनिक समय में, अधिकांश आस्तिकों और नास्तिकों के बीच के विवाद में, भगवद्गीता का पाठक दोनों का समर्थन नहीं करेगा, क्योंकि दोनों ही मुख्य रूप से उच्चतम ज्ञान से अनभिज्ञ हैं। भगवद्गीता के संपर्क में आने से, नास्तिक और धार्मिक कट्टरपंथी दोनों ही चुप हो जाते हैं, क्योंकि गीता में परम सत्य का ऐसा स्पष्ट निर्णायक ज्ञान निहित है जो अब तक इस संसार में कभी प्रकाशित नहीं था।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥९-१६॥

मैं ही अनुष्ठान हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही अर्पण हूँ, मैं ही पवित्र औषधि हूँ, मैं ही मंत्र हूँ, मैं ही घी हूँ, मैं ही पवित्र अग्नि हूँ, और मैं ही अर्पण की विधी हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥९-१७॥

मैं ही इस जगत का माता और पिता हूँ, मैं ही पालनकर्ता, पितामह, ज्ञान का उद्देश्य, शुद्धिकर्ता, ॐ अक्षर हूँ, और मैं ही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥९-१८॥

मैं ही सर्वोच्च लक्ष्य, पालनकर्ता, गुरु, साक्षी, धाम, आश्रय और अत्यन्तप्रिय मित्र हूँ। मैं ही सृजन, पालन, और प्रलय हूँ। मैं ही सब का आश्रय, निधान, तथा अविनाशी बीज हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥९-१९॥

हे अर्जुन, मैं ही गर्मी पैदा करता हूँ और मैं ही वर्षा को लाता और रोकता हूँ। मैं ही अमरत्व और साक्षात् मृत्यु हूँ। मैं ही वास्तविकता और भ्रम हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

अगर कोई यह पूछे कि "कृष्ण कहाँ है?" तो कोई एक अन्य प्रश्न के साथ उत्तर दे सकता है – "कहाँ कृष्ण नहीं हैं?" जगत में हर पत्थर और रेत के दाने को पलटने के बाद भी, उस वस्तु को पाना अत्यंत ही कठिन होगा जिसमें कृष्ण न हो। अंततः कृष्ण जगत और उससे परे भी सर्वत्र व्याप्त हैं। वे विशिष्ट रूप से एक व्यक्ति हैं, हमारे अत्यन्तप्रिय मित्र हैं, हमारे शुभचिंतक हैं, और भगवद्गीता के वक्ता हैं।

यह जानना दिल्चस्प है कि संसार के इतिहास में भगवद्गीता के अतिरिक्त अन्य कोई भी साहित्य इतनी स्पष्टता और निर्भीकता से पूर्ण सत्य की घोषणा नहीं

करता। अन्य सभी प्रयास इस तुलना में काफी फीके हैं। यहाँ पूर्ण सत्य स्वयं सीधे भगवद्गीता का संदेश अर्जुन को दे रहा है।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९-२०॥

जो तीनो वेदों में निपुण हैं वे परोक्ष रूप से मेरी ही पूजा करते हैं, और सोम रस के पान से वे पवित्र होकर स्वर्गलोक की प्राप्ति करते हैं। वे अपने पुण्यो के द्वारा इंद्र लोक पहुंचते हैं, जहाँ वे देवताओं की भांति सुख भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥९-२१॥

स्वर्गलोक के व्यापक सुख का आनंद भोगने के बाद, जब उनके पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो जाते हैं, तब वे पुन: इस मृत्युलोक में लौट आते हैं। इसलिए, भौतिक भोग प्राप्त करने के लिए वैदिक अनुष्ठान करने वालों का फल क्षणभंगुर है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९-२२॥

किन्तु जो लोग अनन्यभाव से मेरे ध्यान में लीन रहते हैं, मेरी पूजा करते हैं और सदैव मेरे साथ जुड़े रहते हैं, उनकी जो कमियां हैं उन्हें मैं पूरा करता हूँ और जो उनके पास है उन्हें संरक्षित रखता हूँ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥९-२३॥

हे कुन्तीपुत्र! जो लोग श्रद्धा के साथ अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, वास्तव में वे मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे यह अनुचित ढंग से करते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण यहां पर सोम रस का पान करने वालों का उल्लेख कर रहे हैं। प्राचीन समय में, कुछ १०,००० साल पहले, सोम, वैदिक अनुष्ठान करने वाले के द्वारा लिया गया एक स्वर्गिक अमृत था, जो उन्हें उच्च लोकों पर पहुंचाने के लिए

जाना जाता था। सोम महज एक नशा पान नहीं था, जैसा कि भगवद्गीता के कुछ पाठकों ने माना है। जो, तीनो वेदों में पारंगत एवं वैदिक अनुष्ठान करने में निपुण होते थे केवल उन्ही को सोम रस पीने की अनुमति थी। कालांतर में समय बीतने के कारण, हम यह नहीं जानते कि वास्तव में सोम कैसे बनाया जाता था, लेकिन हम यह अवश्य जानते हैं कि यह एक अमृत था, और महज़ शराब, व्हिस्की या गांजे जैसा कोई नशीला पदार्थ नहीं था।

जो वेदों में पारंगत हैं वे उच्च लोक पहुंचते हैं और स्वर्गीय सुखों का आनंद लेते हैं। श्री कृष्ण कहते हैं कि, जब स्वर्गीय सुखों के भोग से उनके पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तब वे दोबारा इस भूलोक के नश्वर स्तर पर लौट आते हैं। इसलिए, समझने की बात यह है कि भौतिक सुख के सभी प्रयास अस्थायी हैं, यहां तक कि स्वर्ग लोको में आनंद की अनुभूति भी।

परन्तु, भक्ति-योगी के लिए जटिल और महंगे वैदिक अनुष्ठानों को करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इस तरह के अनुष्ठानों के सारे उद्देश्य, भक्ति और कृष्ण के प्रति समर्पण के माध्यम से ही तृप्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण के साथ भक्ति-योगियों की आत्मीयता इस प्रकार से है कि श्रीकृष्ण यह घोषित करते हैं कि उनमें (भक्ति-योगियों में) जो कुछ कमियां हैं उन्हें वे (श्री कृष्ण) पूरा करेंगे और जो उनके पास है उनको वे संरक्षित रखेंगे। जो श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित होते हैं उनके लिए यह श्रीकृष्ण के आश्रय का अनुग्रह है। इसी मूल विषय को भगवद्गीता में शुरू से अंत तक दोहराया जाता है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥९-२४॥

मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता एवं स्वामी हूँ। किन्तु जो लोग मेरे वास्तविक दिव्य स्वभाव से अनभिज्ञ हैं, उनका आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से पतन हो जाता है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥९-२५॥

देवताओं के उपासक देवलोक प्राप्त करते हैं। जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं। भूत और आत्माओं के उपासक भूत और आत्माओं की दुनिया में जाते हैं। लेकिन जो लोग मेरी पूजा करते हैं वे मेरे पास आते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥९-२६॥

यदि कोई भक्ति से मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल प्रदान करता है, तो मैं अपने शुद्ध-हृदय वाले भक्त से इनका स्वीकार करता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९-२७॥

हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी कार्य करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ में आहूती दो, जो कुछ भी दान दो, और जो भी तपस्या करो, उसे मुझपर अर्पण के मनोभाव से करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥९-२८॥

ऐसा करने से, तुम कर्म के बन्धन तथा इसके शुभ और अशुभ फलों से मुक्त हो सकोगे। अपने कर्मों के परिणामों को त्यागकर और अपने आप को योग में मेरे साथ जोड़कर, तुम मुक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे।

~ अनुवृत्ति ~

इस संसार में बिना कुछ उपभोग किए कोई नहीं रह सकता। भारत में कुछ योगी हैं, जो इस भौतिक जगत के उलझन से बचने के लिए चरमसीमा तक कोशिश करते हैं। इसके लिए वे कपड़े, भोजन और यहां तक कि पानी तक छोड़ देते हैं। लेकिन, क्योंकि वे श्रीकृष्ण को सभी वस्तुएं के स्वामी और भोक्ता के रूप में नहीं पहचान पाते हैं, अंततः वे अपने झूठे त्याग के पद से नीचे गिर जाते हैं। हम इसे "झूठा त्याग" कहते है क्योंकि "वास्तविक त्याग" का अर्थ है स्वयं को स्वामी और भोगी होने के विचार का त्याग करना और श्रीकृष्ण को सर्वस्व का स्वामी और भोक्ता समझना।

वास्तविक त्याग के चरण में, हम सबसे पहले श्रीकृष्ण को सब कुछ अर्पण करते हैं और अर्पण के अवशेषों (प्रसाद) को केवल अपने रखरखाव के लिए स्वीकार करते हैं। उपयुक्त मन्त्रों का जाप करके श्रीकृष्ण को भोजन अर्पित करने की प्रक्रिया गुरु से सीखी जानी चाहिए। जब भोजन श्रीकृष्ण को मन्त्र द्वारा अर्पित

किया जाता है तो भोजन कृष्ण प्रसाद बन जाता है। इसे ही हम श्रीकृष्ण की कृपा कहते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई उन्हें भक्ति के साथ एक पत्र, पुष्प, फल या जल अर्पित करता है तो वह उसे स्वीकार करेंगे। इसका अर्थ यह है कि मांसाहारी खाद्य पदार्थ जैसे कि मांस, मछली और अंडे, साथ ही ऐसी इन वस्तुओं से तैयार व्यंजन, कृष्ण को अर्पण नहीं किया जा सकता। कृष्ण को अर्पण किए जाने वाले खाद्य में सब्जियां, फल, बादाम, अखरोट आदि, अनाज और दूध उत्पाद उपयोग किए जा सकते हैं। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि गोपाल, गोरक्षक श्रीकृष्ण को दूध के उत्पादों जैसे कि दही, मक्खन आदि बहुत प्रिय है। श्रीकृष्ण को अर्पण किए जाने वाले ऐसे व्यंजन, व्यक्ति को योग के अभ्यास के लिए स्वस्थ एवं चुस्त बनाता है, और साथ-साथ कर्मों के बंधनों (प्रतिक्रियाओं) से मुक्त कर देता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥९-२९॥

सभी जीवों के लिए मुझमें समभाव है। मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न ही किसी का पक्ष लेता हूं। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करता है वह मुझमें स्थित है और निश्चित रूप से मैं उनके साथ हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥९-३०॥

भले ही किसी ने जघन्य से जघन्य कर्म भी किया हो, किंतु यदि वह अनन्य भक्ति से मेरी पूजा करता है, तो ऐसे व्यक्ति को साधू माना जाना चाहिए क्योंकि उसका संकल्प उचित है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥९-३१॥

वह तुरन्त धर्मात्मा बन जाता है और स्थायी शान्ति प्राप्त करता है। हे कुन्तीपुत्र! निडर होकर घोषणा कर दो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥९-३२॥

हे पार्थ! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्न-जन्मे, स्त्री, वैश्य (व्यापारी), या शूद्र (श्रमिक) ही क्यों न हों, वे भी परमधाम को प्राप्त करते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥९-३३॥

फिर शुद्ध ब्राह्मणों और धर्मपरायण राजाओं का क्या कहना? अत: जब तुम इस नश्वर एवं दुखमय संसार में आये हो, तो अपने आप को मुझपर समर्पित करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥९-३४॥

सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमन करो। इस तरह, मुझपर आत्मसमर्पण करके तुम निश्चित रूप से मुझे प्राप्त करोगे।

~ अनुवृत्ति ~

यहां यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे सभी जीवों के लिए समान हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण के लिए "कोई चुने हुए लोग" (chosen people) नहीं हैं। उनके नित्य अवयवभूत अंश के रूप में श्रीकृष्ण की दृष्टि में हर कोई बराबर है। कृष्ण अपनी स्वेच्छा से किसी एक को जीवन का आनंद और दूसरे को पीड़ित नहीं करते हैं। सुख और दुःख हमारे पिछले जन्म में एवं इस जीवन में किए गए धार्मिक या अधार्मिक कार्यों के परिणाम हैं।

जब कोई श्रीकृष्ण के समीप जाने का प्रयास करता है तब श्रीकृष्ण भी तदनुसार उसके साथ सीधा पारस्परिक संबंध बढ़ाते हैं। श्रीकृष्ण के समीप जाने के लिए किसी व्यक्ति को किसी विशेष देश, परिवार, धर्म, जाति या लिंग में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है, ना ही किसी को पहले कुछ पुण्य कर्म, जैसे कि तपस्या या दान करने की आवश्यकता है। श्रीकृष्ण का द्वार सभी के लिए खुला है और वे प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार के अनुसार अपना संबंध बढ़ाते हैं।

किंतु इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि जो लोग श्रीकृष्ण के प्रति गहरी श्रद्धा रखते हैं और पूरी तरह से उनका शरण ग्रहण करते हैं, वे उन्हें बहुत प्रिय हैं

और जीवन के अंत में वे निश्चित रूप से उनके परम धाम में श्रीकृष्ण को प्राप्त करते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अतः व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए राजगुह्य योग नामक नौवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १०

विभूति योग

श्रीभगवानुवाच।
भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१०-१॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - हे महाबाहु, एक बार पुन: इन परम उपदेशों को सुनो। क्योंकि मैं तुम्हारा हित चाहता हूँ, और तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो, इसलिए मैं इन उपदेशों को तुम्हें बताता हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥१०-२॥

न देवताओं को और न महर्षियों को मेरे उद्गम का पता है। वास्तव में, मैं ही देवताओं एवं ऋषि मुनियों की उत्पत्ति का मूल-कारण हूँ।

यो मामजमनादिंच वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मत्र्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०-३॥

जो मुझे जन्महीन, अनादि, तथा दुनिया के सर्वोच्च नियंत्रक के रूप में जानता है, वह नश्वरों में भ्रांति-विहीन है, और सभी कर्मों से मुक्त है।

~ अनुवृत्ति ~

श्रीकृष्ण अज्ञात हैं और ज्ञानातीत हैं। वे अधोक्षज हैं - इंद्रियों की पहुंच से परे, मन और बुद्धि की समझ से परे। अपने बल पर जीवित प्राणी चाहे कितना भी प्रयास करें, वे श्रीकृष्ण तक कभी नहीं पहुंच सकते, किंतु श्रीकृष्ण स्वयं चाहें तो तुरंत ही उनके सामने प्रकट हो सकते हैं। हालांकि श्रीकृष्ण ही उनके उत्पत्ति का कारण हैं, तब भी देवतागण तथा ब्रह्मा, इंद्र, सनक, दुर्वासा, मरीचि आदि जैसे महान ऋषि मुनि भी श्रीकृष्ण को अपने स्वयंरुप में नहीं जानते। लेकिन जो श्रीकृष्ण के भक्त हैं, भक्ति-योगी हैं, वे श्रीकृष्ण को हृदय की गहराई में स्थित परम पुरुष के रूप में जानते हैं।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

मानव जाति का सर्वोच्च धर्म वही है जिसके द्वारा हम, इन्द्रियों की ज्ञप्ति से परे - अधोक्षज, परम पुरष (भगवान् श्रीकृष्ण) के प्रति भक्ति प्राप्त कर सकें।

ऐसे भक्ति-योगी की भक्ति हेतु रहित एवं अविच्छिन्न होनी चाहिए जिससे संपूर्ण आत्म-संतृप्ति प्राप्त होती है। (श्रीमद्भागवतम् १.२.६)

श्रीकृष्ण सृष्टि के रचयिता और सभी के उत्पति के कारण हैं, लेकिन वे स्वंय अजन्मे हैं। फिर भी, जब कृष्ण पृथ्वी पर प्रकट होते हैं, जैसा कि उन्होंने लगभग ५००० साल पहले भगवद्गीता का ज्ञान देने के लिए किया था, वह अपने भक्तों वासुदेव तथा देवकी को अपने माता पिता के रूप में स्वीकार करते हैं, और ऐसे प्रकट होते हैं जैसे प्रत्येक दिन की शुरुआत में सूर्य समुद्र से प्रकट होता है। कृष्ण ने वासुदेव के हृदय में पहले स्वयं को प्रकट किया और फिर स्वयं को देवकी के हृदय में स्थानांतरित कर लिया। वहां, उनके हृदय से वे इस संसार में प्रकट हुए। यह अकल्पनीय है, हमारी इन्द्रियों के समझ से बाहर है, लेकिन कृष्ण बिना जन्म लिए ही इस जगत में आते है।

श्रीमद्भगवद्गीता के महान भाष्यकार श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि श्रीकृष्ण का नित्य अजन्मा होना और उसी समय उनका जन्म लेना, उनके अचिन्तय शक्ति के कारण ही संभव होता है। यदि कृष्ण अचिन्त्य न होते तो वे परम पुरुष भगवान् ही न होते। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस बात की पुष्टि करते हैं कि जो इस बात को समझता है वह कभी भी मोहग्रस्त नहीं होता है और सभी कर्मों से मुक्त है।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥१०-४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥१०-५॥

बुद्धिमत्ता, ज्ञान, भ्रम से मुक्ति, सहिष्णुता एवं क्षमाभाव , सत्यता, आत्म-नियंत्रण, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और निर्भयता, अहिंसा, समभाव, संतुष्टि, तपस्या, दानशीलता, यश और अपयश - ये सभी जीवों की विविध अवस्थाएं मेरे ही द्वारा उत्पन्न होती हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥१०-६॥

सप्तर्षिगण, चार कुमार और मनु, जिनके द्वारा इस संसार के सभी प्राणी अवतरित हुए हैं, ये सभी मेरे मन से प्रकट हुए हैं।

एतां विभूति योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥१०-७॥

जो मेरे वैभव, ऐश्वर्य एवं योग के तत्त्व को जानता है, वह अविकल्प रूप से मेरे साथ एक हो जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

~ अनुवृत्ति ~

हालांकि, अच्छा व बुरा, सुख और दुःख, यश व अपयश आदि, सबकुछ श्रीकृष्ण से ही उत्पन्न होते हैं, किंतु इसका तात्पर्य जीवन के भाग्यवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करने के लिए नहीं है। भक्ति-योगी को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच अंतर करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करने की अनुशंसा की जाती है। जो भक्ति-योग के लिए अनुकूल है उसे स्वीकार करें और जो प्रतिकूल है उसे अस्वीकार करें।

आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रातकूल्यस्य वर्जनम् ।

> हमे उन चीजों को स्वीकार करना चाहिए जो भक्ति के अनुकूल हैं और उन चीजों को अस्वीकार करना चाहिए हैं जो भक्ति के प्रतिकूल हैं। (हरि-भक्ति-विलास ११.४१७)

सप्तर्षियों में मरीचि, भृगु, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं। चार कुमार सनक, सनातन, सनंदन और सनत्कुमार हैं। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। ये मनु मानव जाति के प्रजनक हैं जो सारे ब्रह्मांड में जीवन को आबाद करते हैं। ये सभी व्यक्तित्व कृष्ण के मन से उत्पन्न होते हैं और भौतिक जगत में ब्रह्मा के पुत्र के रूप में प्रकट होते हैं।

ये सभी अद्भुत लीलाएं हैं जो सामान्य लोग समझ नहीं सकते। केवल श्रीकृष्ण के सबसे गोपनीय (अनन्य) भक्त ही उनके वास्तविक स्वभाव को समझ सकते हैं। ऐसा योगी द्विविधता से मुक्त होता है, श्रीकृष्ण के साथ सदैव जुड़ा होता है और सभी चीजों में उन्हें पूर्ण सत्य के रूप में देखता है। श्रीकृष्ण हमें आश्वासन देते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥१०-८॥

मैं सभी वस्तुओं का स्त्रोत हूँ। सभी वस्तुएं मुझ से ही उद्भूत होते हैं। यह समझकर, बुद्धिमान व्यक्ति जिन्हें मेरा प्रेम प्राप्त है वे हृदय से मेरी पूजा करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१०-९॥

जो सदैव मेरा चिन्तन करते हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन मेरे लिए समर्पित कर दिया है, वे परस्पर एक दूसरे को मेरे ज्ञान से आलोकित करते हैं तथा मेरे विषय में बातें करते हुए परम संतोष तथा आनन्द का अनुभव करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगंतं येन मामुपयान्ति ते ॥१०-१०॥

जो सदैव मुझ पर समर्पित हैं और प्रेम पूर्वक मुझे पूजते हैं, मैं सदा उन्हें भक्तिपूर्ण प्रेरणा प्रदान करता हूँ, जिससे कि वे मेरे पास आ सकें।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥१०-११॥

मैं उन पर विशेष कृपा करने हेतु उनके हृदय में प्रकट होकर ज्ञान के प्रकाशमान चिराग द्वारा अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करता हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

कहा गया है कि इस अध्याय के श्लोक ८ से लेकर श्लोक ११ तक में, श्रीमद्भागवद्गीता का तात्त्विकि सिद्धान्त निहित है। यहां, श्री कृष्ण स्थापित करते हैं, कि वे स्वयं ही भौतिक और आध्यात्मिक जगत के स्त्रोत हैं, एवं ब्रह्मन व परमात्मा की उत्पत्ति के कारण हैं। "सर्वस्य" शब्द के उपयोग से, श्रीकृष्ण प्रमाणित करते हैं कि वे स्वंय वैकुण्ठ के नारायण के भी स्त्रोत हैं (जो सभी शक्तियों के स्वामी हैं)।

देवताओं के समूह में, हम यह पाते हैं की ब्रह्माजी सत्य-लोक के स्वामी हैं, शिवजी शिव-लोक के स्वामी हैं, इन्द्रजी इन्द्र-लोक के स्वामी हैं, परन्तु कहीं

भी हम यह नहीं पाते हैं कि कोई भी व्यक्ति/देव सभी के स्वामी एवं उत्पत्ति के कारण (स्त्रोत) हैं, सिवाय श्रीकृष्ण के। यह समझ कि श्री कृष्ण सर्वस्व हैं, बुद्धिमानों को श्री कृष्ण की हृदय से प्रेमपूर्वक पूजा करने के लिए प्रेरित करता है।

श्री कृष्ण कहते हैं, मत्-चित्ता - सदैव मेरा चिन्तन करें एवं मेरा ध्यान करें; मद्-गत-प्राणा - अपना जीवन मुझ पर समर्पित करें। बुद्धिमान व्यक्तियों की संगत में मेरी चर्चा में संलग्न होकर (कथयन्त), एक दूसरे को अनुप्राणित एवं ज्ञान से आलोकित करें (बोधयन्त)। यही मन और इंद्रियों के लिए उचित ध्यान और कार्य है।

कृष्ण के बारे में चर्चा को कृष्ण-कथा या श्रवण और कीर्तन कहते हैं। इसका अर्थ श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम् और ऐसे अन्य साहित्यों का श्रवण एवं पाठ करना और संकीर्तन करना, यानी की महा-मंत्र का सामूहिक जाप करना -

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

श्रीकृष्ण के नाम और क्रियाकलापों का श्रवण और जाप करना ही योग की सर्वोच्च पद्धति है। कृष्ण पद्म-पुराण में पुष्टि करते हैं कि जहां भी उनके नाम का जप होता है वे वही निवास करते हैं।

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा ।
तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद् भक्ताः ॥

न ही मैं वैकुण्ठ में बसता हुँ, न ही कनिष्ठ योगियों के हृदय में। मैं वहीं वास करता हुँ, जहां मेरे भक्त मेरी क्रियाकलापों का महिमामंडन करते हैं तथा मेरा नाम जपते हैं। (पद्म-पुराण)

कुल मिलाकर, कृष्ण की भक्ति में स्वयं को पूरी तरह से संलग्न करने के लिए भक्ति-योग में नौ प्रक्रियाएं हैं। इनमें से, श्रवण और कीर्तन सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण हैं -

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन् नव-लक्षणा ॥

> महा-मंत्र और विष्णु या कृष्ण की लीलाओं का श्रवण एवं कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, उनके चरण-कमलों की सेवा करना, उनकी आदरपूर्वक पूजा करना, उनका सेवक बनना, उन्हें अपना सबसे प्रिय मित्र मानना, और अपना सर्वस्व उन पर समर्पण कर देना। इन नौ प्रक्रियाओं को भक्ति-योग के रूप में स्वीकार किया जाता है। (श्रीमद्भागवतम् ७.५.२३) ।

श्लोक १० में प्रीति-पूर्वकम् शब्द का उपयोग हुआ है। प्रीति का अर्थ है प्रेम, लेकिन इस प्रेम को इस भौतिक संसार में बद्ध-जीवों के बीच साझा किए जाने वाले प्यार और स्नेह के साथ मिलाकर अपनी समझ को उलझाना नहीं चाहिए। "प्रीति" ऐसी शुद्ध-स्नेह की स्थिति है जिसमें स्वार्थ या सांसारिक वासनाओं की कोई अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। श्रीकृष्ण को पूजने के लिए इस तरह के प्रेम की आवश्यकता होती है और ऐसा प्रेम ही उनके साथ एक शाश्वत बंधन प्राप्त करने की कुंजी है। जिन लोगों को भक्ति-योग द्वारा श्रीकृष्ण के लिए ऐसा प्रेम प्राप्त है, वे लगातार उनके द्वारा शुद्ध भक्ति (बुद्धी-योग) की प्रेरणा से सशक्त होते हैं, जिससे वे उनके (श्रीकृष्ण) पास आ सकते हैं।

श्रीकृष्ण, परमात्मा (परम चेतना) के रूप में सभी जीवों के हृदय में बसते हैं, और उनके संसार में भ्रमण का निर्देशन करते हैं। जब कोई कृष्ण को जानने, कृष्ण की सेवा करने और उनके साथ एक शाश्वत संबंध में प्रवेश करने की इच्छा रखता है, तो उनके लिए करुणा के कारण, कृष्ण व्यक्तिगत रूप से उनके हृदय में प्रकट होते हैं और ज्ञान के रोशन चिराग द्वारा अज्ञान से पैदा हुए अंधकार को नष्ट कर देते हैं। यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण प्रकाश हैं और अज्ञान अंधकार है -

कृष्ण-सूर्य-सम माया हय अन्धकार ।
याहां कृष्ण ताहां नाहि मायार अधिकार ॥

> कृष्ण की तुलना सूर्य से की जाती है और माया (अज्ञान) अंधेरे की तरह है। जहां भी कृष्ण हैं वहां कभी अंधेरा नहीं हो सकता। (चैतन्य चरितामृत, मध्य-लीला २२.३१)

जब भी रोशनी दिखाई देती है वहां अंधेरा परास्त हो जाता है। इस प्रकार, जब कृष्ण व्यक्तिगत रूप से भक्ति-योगी के हृदय में प्रकट होते हैं, तो सभी

अंधकार और निराशा गायब हो जाते हैं, और एक अति प्रबुद्ध हो जाता है। यह भगवद्गीता का सारांश है।

अर्जुन उवाच ।
परं ब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१०-१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षि रदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१०-१३॥

अर्जुन ने कहा - आप सर्वोच्च ब्रह्मन (ब्रह्म-ज्योति) हैं, सर्वोच्च आश्रय हैं, और सबसे पवित्र हैं। आप शाश्वत परम पुरुष हैं, सबसे दिव्य हैं, मौलिक दैवत्व हैं, अजन्मे तथा सर्वव्यापी हैं। सभी ऋषियों जैसे कि नारद, असित, देवल और व्यास ने यही कहा है, जैसे की आपने मुझे बताया है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१०-१४॥

हे केशव! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, उसे मैं पूर्णतया सत्य मानता हूँ। हे प्रभु! न तो देवतागण न ही असुरगण आपके व्यक्तित्व को पूरी तरह से समझ सकते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१०-१५॥

हे परमपुरुष! हे सबके उद्गम, हे समस्त प्राणियों के स्वामी, हे देवों के देव, हे जग के स्वामी! केवल आप ही अपने स्वयं को वास्तव में जानते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१०-१६॥

कृपा करके विस्तारपूर्वक आप अपनी दिव्य शक्तियों का मुझसे वर्णन करें जिनके द्वारा आप समस्त लोकों में व्याप्त हैं।

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१०-१७॥

हे समस्त योग शक्तियों के स्वामी! मैं किस तरह आपका निरन्तर चिन्तन कर सकता हूँ, आपको मैं कैसे जानू और आप पर ध्यान कैसे करूं?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिंच जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१०-१८॥

हे जनार्दन, कृपया मुझे अपनी योग शक्तियों और विभूतियों के बारे में विस्तार से बताएं। आपके विषय पर अमृत वचनों के श्रवण से मैं कभी तृप्त नहीं होता हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन ने वह सब स्वीकार कर लिया जो श्रीकृष्ण ने कहा और वे कहते हैं कि केवल कृष्ण ही वास्तव में स्वयं को जानते हैं। परम सत्य अनंत है और अर्जुन जैसे जीव, परिमित हैं, इसलिए वे स्वाभाविक रूप से कृष्ण के वैभव को समझने में असमर्थ हैं। फिर भी अर्जुन के लिए इस तरह के वैभव को सुनना ध्यान करने के लिए एक अच्छी आध्यात्मिक प्रेरणा है।

अर्जुन श्रीकृष्ण को योगी (योग शक्तियों के स्वामी) कहकर संबोधित करते हैं, और उनसे पूछते हैं कि वे उनका ध्यान किस तरह करे। इस अध्याय के शेष श्लोकों में श्रीकृष्ण यह बताते हैं कि किस प्रकार उन पर ध्यान करना चाहिए। लेकिन अंतिम श्लोक में श्री कृष्ण यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके अप्रत्यक्ष या अमूर्त रुप पर ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनके केवल एक अंश से ही वे सारे जगत को आधार प्रदान करते हैं। अतएव, श्रीकृष्ण अर्जुन को इंगित करते हैं कि उनके व्यक्तिगत रूप पर ध्यान करना ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान की प्रक्रिया है।

श्रीभगवानुवाच ।
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१०-१९॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - सुनो, हे कुरु वंश के सर्वश्रेष्ठ, मेरी शक्तियां एवं ऐश्वर्य असीम हैं, इनकी सीमा का कोई अंत नहीं है, किंतु मैं तुमसे केवल अपने उन दिव्य वैभवों का वर्णन करता हूँ जो सबसे प्रधान हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥१०-२०॥

हे अज्ञान की निद्रा के विजयी, अर्जुन! मैं समस्त जीवों के हृदयों में स्थित परमात्मा हूँ। मैं ही समस्त जीवों का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥१०-२१॥

मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में तेजस्वी सूर्य, मरुतों में मरीचि, तथा नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥१०-२२॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ, तथा समस्त जीवों की जीवनशक्ति या चेतना हूँ।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥१०-२३॥

मैं रुद्रों में शिव हूँ, यक्षों तथा राक्षसों में कुबेर हूँ, वसुओं में अग्नि हूँ, और पर्वतों में मेरु हूँ।

पुरोधसांच मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥१०-२४॥

हे पार्थ! पुरोहितों में मुझे मुख्य पुरोहित ब्रहस्पति जानो। मैं सेनानायकों में कार्तिकेय हूँ, एवं जलाशयों में समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥१०-२५॥

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में दिव्य ओंकार (ॐ) हूँ, यज्ञों में जप हूँ, तथा अचलों में हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥१०-२६॥

समस्त वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। देवर्षियों में नारद हूँ। मैं गन्धों में चित्ररथ हूँ, और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥१०-२७॥

अश्वों में मुझे उच्चैःश्रव जानो, जो समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न हुआ था। गजों में मैं गजराज ऐरावत हूँ, तथा मनुष्यों में राजा हूँ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥१०-२८॥

आयुधों में मैं वज्र हूँ, गायों में कामधेनु हूँ। प्रजनकों में कामदेव, तथा सों में वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥१०-२९॥

नागलोक के नागों में मैं अनन्त हूँ, और जलचरों में मैं वरुणदेव हूँ। पितरों में मैं अर्यमा हूँ, तथा दण्ड-दायकों में मैं यम हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥१०-३०॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, प्रतिबंधो में काल हूँ। मैं पशुओं में सिंह हूँ, तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥१०-३१॥

शुद्ध करनेवालों में मैं वायु हूँ। शस्त्र चलाने वालों में मैं राम हूँ। जलजन्तुओं में मैं मकर, और नदियों में गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥१०-३२॥

हे अर्जुन! मैं समस्त सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ, और तर्कशास्त्रियों में मैं निर्णायक सत्य हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥१०-३३॥

मैं अक्षरों में अकार हूँ, और समासों में द्वन्द्व समास हूँ। मैं ही काल की निरंतर धारा हूँ, और स्त्रष्टाओं में ब्रह्मा हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥१०-३४॥

मैं सर्वभक्षी मृत्यु हूँ, और मैं हि भविष्य के प्रकट होने का कारण हूँ। स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥१०-३५॥

सामवेद् के स्तुतियों में मैं बृहत्साम हूँ, और वैदिक छन्दों में मैं गायत्री हूँ। मासो में मैं मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में फूल खिलने वाली वसन्त ऋतु हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥१०-३६॥

छलियों की मैं द्यूतक्रीड़ा हूँ, और तेजस्वियों का तेजस हूँ। मैं विजय एवं साहस हूँ और बलवानों का बल हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥१०-३७॥

वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव और पाण्डवों में अर्जुन हूँ। मैं मुनियों में व्यास मुनि तथा महान विचारकों में उशना कवि हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥१०-३८॥

मैं दण्ड देनेवालों का दण्ड हूँ। विजय के आकांक्षियों की मैं नीति हूँ। रहस्यों में मैं मौन हूँ, और ज्ञानियों का ज्ञान हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥१०-३९॥

हे अर्जुन! मैं समस्त जीवित-प्राणियों का जनक बीज हूँ। अस्तित्व में ऐसा कोई चर या अचर वस्तु नहीं जो मेरे बिना अस्तित्वमान हो।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥१०-४०॥

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियां असंख्य हैं। मैंने तुमसे केवल उदाहरण के लिए अपने अनन्त विभूतियों के मात्र एक अंश का वर्णन किया है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥१०-४१॥

जानो कि जो भी ऐश्वर्य युक्त, सुन्दर तथा तेजस्वी सृष्टियां अस्तित्व में है, मेरे ही शक्ति के एक अंश मात्र से ही उद्भूत हुए हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥१०-४२॥

किन्तु हे अर्जुन! यह सब जानने की आवश्यकता क्या है? मेरे एक अंश मात्र से ही यह सम्पूर्ण जगत आधारित है।

~ अनुवृत्ति ~

उपरोक्त श्लोकों में श्रीकृष्ण ने कहा है कि संसार की सभी वैभवपूर्ण और अद्भुत चीजें उन्हीं को दर्शाती है। श्रीकृष्ण ऐसा इसलिए कहते हैं, ताकि हम यह समझ सकें कि इस भौतिक जगत में जो भी प्रसिद्ध, सुंदर और गौरवशाली है वह केवल उन्हीं से उत्पन हुआ है। कृष्ण के वैभव अपार हैं, परन्तु अंततः कृष्ण कहते हैं कि जब परम सत्य उनके सामने उपस्थित है, तो अर्जुन को अप्रत्यक्ष तत्त्व पर ध्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए, कृष्ण अर्जुन को सुझाव देते हैं कि वह उनके इस प्रत्यक्ष रूप का ही ध्यान करें।

श्रीकृष्ण का कोई ऐसा रूप नहीं है जो कुरुक्षेत्र में अर्जुन के सामने उपस्थित रूप से श्रेष्ठ है, केवल उनके उस रूप को छोड़कर जब वह यमुना नदी के किनारे

वृंदावन के कुंज वनों में एक युवा के रूप में, तिरछी दृष्टि से देखते हुए, हाथों में अपनी बांसुरी लिए, और तीन जगहों पर बांके हुए अपनी दिव्य स्वरूप में दिखते हैं।

स्मेरां भङ्गी-त्रय-परिचितं साचि-विस्तीर्ण-दृष्टिम् ।
वंशी-न्यस्ताधर-किशलयाम् उज्ज्वलां चन्द्रकेण ॥
गोविन्दाख्यां हरि-तनुमितः केशि-तीर्थोपकण्ठे ।
मा प्रेक्षिष्ठास् तव यदि सखे बन्धु-सङ्गेऽस्ति रङ्गः ॥

हे मित्र, यदि आपको इस जगत में अपने सहयोगी बंधुओ से लगाव है, तो गोविन्दजी की मोहक मुस्कान का अवलोकन न करें, जब वे केशी-घाट में यमुना के तीर पर खड़े होते हैं। वे अपनी तिरछी दृष्टि से देखते, अपनी बांसुरी को अपने होठों पर रखते हैं, जिनकी तुलना ताजा खिलते कलियों से की जाती है। तीन स्थानों पर बांका हुआ उनका दिव्य शरीर, चंद्रमा के प्रकाश में अत्यंत उज्ज्वलित दिखाई देता है। (भक्ति-रसामृत-सिंधु १.२.२३९)

श्रीकृष्ण, ५२३७ साल पहले वृंदावन, भारत, में प्रकट हुए थे और अपने निजी भक्तों के साथ एवं भक्ति-योग के माध्यम से परम-सिद्ध हुए भक्तों के साथ उन्होंने अपनी लीला प्रदर्शित की थी। वृंदावन में श्रीकृष्ण की लीलाएं श्रीमद्भागवतम् के दसवें काण्ड में दर्ज किया गया है जो पिछले पचास सदियों से भक्ति-योग के साधकों को प्रेरित करता आ रहा है।

भगवद्गीता के अंतिम अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को सूचित करते हैं कि जो कोई भी उन पर आत्मसमर्पण करता है, उसे परम धाम गोलोक वृंदावन प्राप्त होगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए विभूति योग नामक दसवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय ११

विश्वरूपदर्शन योग

अर्जुन उवाच ।
मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥११-१॥

अर्जुन ने कहा - अपनी अनुकंपा से, आपने दिव्य स्वभाव के अत्यन्त गुह्य आध्यात्मिक रहस्य को बताया, जिसे सुनकर अब मेरा मोह दूर हो गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥११-२॥

हे कमल-नयन कृष्ण, मैंने आपसे सभी जीवों की उत्पत्ति एवं विनाश का विस्तृत वर्णन सुना, साथ ही साथ आपकी अविनाशी महिमा को भी सुना।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रुपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥११-३॥

हे परमेश्वर! जो आपने अपने बारे में बताया है वह परम सत्य है। हे पुरुषोत्तम, अब मैं आपके वैभवशाली रूप के दर्शन की इच्छा करता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥११-४॥

हे योगेश्वर! यदि आपको लगता है कि यह संभव है, तो कृपया मुझे अपना अव्यय स्वरुप दिखाएं।

~ अनुवृत्ति ~

अध्याय दस के अंत में, अर्जुन पूरी तरह से आश्वस्त हो जाता है कि श्रीकृष्ण परम पुरुष, भगवान् हैं, और यह सारी सृष्टि उन्ही से प्रकट होती है, और विनाश के बाद उन्ही में समा जाती है। ताकि भविष्य में आने वाली पीढ़ियां गलती से यह न समझे कि श्रीकृष्ण कोई साधारण व्यक्ति या केवल एक दार्शनिक थे, इसलिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपने विश्वरूप को प्रकट करने का आग्रह किया - श्रीकृष्ण का वह रुप जिसमे सम्पूर्ण जगत समाहित है। यह रुप किसी के स्वातंत्र प्रयास से नहीं देखा जा सकता है, और यह पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण की कृपा पर ही निर्भर करता है की अर्जुन उसे देख सकते हैं की नहीं।

अर्जुन भी जानते हैं कि भविष्य में अनैतिक एवं विवेकहीन व्यक्ति स्वयं को भगवान् होने का दावा करेंगे और अज्ञानी लोगों को गुमराह करेंगे। इसलिए, अर्जुन चाहते हैं कि कृष्ण अपने विश्वरूप को मानदण्ड के रूप में प्रदर्शित करें ताकि कोई भी व्यक्ति जो भगवान् होने का दावा कर रहा हो, अपनी स्थिति की पुष्टि करने के लिए उसे विश्श्वरूप दिखाने में सक्षम होना चाहिए।

सचमुच, अर्जुन की दूरदर्शिता सटीक थी। श्रीकृष्ण के समय से, और विशेष रूप से आधुनिक समय में, कई तथाकथित आध्यात्मिक गुरुओं ने समाज में कदम रखा है और स्वयं को कृष्ण या भगवान् के अवतार होने का दावा किया है। दुर्भाग्य से, जन मानस इतने अज्ञानी है कि ऐसे पाखंडी एवं ढोंगियों को स्वीकार करते हैं। जब व्यक्ति स्वयं को भगवान् होने का दावा करता है, या जब कोई व्यक्ति किसी अन्य मनुष्य को भगवान् के रूप में स्वीकार करता, तब सबसे बड़ी दुर्गति उस पर आ पड़ती है। निस्संदेह यह सबसे गहरा अज्ञान है। इशोपनिषद् इस प्रकार चेतावनी देता है -

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

जो लोग अविद्या (निराधार वस्तुओं) की पूजा में संलग्न होते हैं, वे अज्ञान के सबसे अंधेरे क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। किंतु जो विद्या संपन्न होकर भी भी दूसरों का उचित मार्गदर्शन नहीं करते, वे अंधकार के और भी गहरे क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। (इशोपनिषद् ९)

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को परम पुरष (परमेश्वर) और सभी योगिक शक्तियों के स्वामी (योगेश्वर) के रूप में संबोधित किया है, क्योंकि अर्जुन जानते हैं कि श्रीकृष्ण उन्हें अपना विश्वरूप दिखाने में सक्षम होंगे और इस प्रकार सदा के लिए श्रीकृष्ण के भगवान् होने और पाखंड़ियों के बीच का अंतर स्थापित हो जाएगा।

श्रीभगवानुवाच।
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥११-५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - हे पार्थ, अब तुम मेरे विविध रंगों व आकृतियों वाले असंख्य दिव्य रूपों को देखो।

पश्यादित्यान्वसूनुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥११-६॥

हे भारत, देखो इन आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों तथा अन्य देवताओं को। इन विविध अद्भुत रूपों को देखो, जो पहले कभी देखे नहीं गए।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥११-७॥

हे अज्ञान की निद्रा के विजयि अर्जुन! एक ही स्थान पर मेरे इस रूप में पूरे ब्रह्मांड को देखो, जिसमें सभी चर-अचर प्राणी शामिल हैं, तथा उसके साथ तुम जो भी देखने की इच्छा रखते हो उसे भी देखो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥११-८॥

किन्तु तुम मुझे अपनी इन आँखों से नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे रहा हूँ। अब मेरे योग ऐश्वर्य एवं वैभव को देखो।

~ अनुवृत्ति ~

यदि कोई अपनी आँखों से या आधुनिक दूरबीन द्वारा अंतरिक्ष में देखे, तो उसे विश्वरूप देखने की उम्मीद नहीं करनी चाहिए, जैसा कि अर्जुन को दिखाया गया था। इस भौतिक शरीर की आँखों से विश्वरूप को देखना संभव नहीं है। ऐसी दृश्य देखने के लिए जैसा कि अर्जुन को प्राप्त होना था, दिव्य दृष्टि की जरूरत है। दूसरे शब्दों में, अर्जुन का विश्वरूप दर्शन व्यक्तिगत था और केवल श्रीकृष्ण द्वारा ही प्रकट किया जा सकता था।

उस दृश्य में अर्जुन एक ही स्थान में वह सब कुछ देख पा रहा था, जो अब है, जो पहले था, जो कुछ भविष्य में होने वाला है, सभी चर व अचर वस्तुएं, और यह सब एक ही पल में। जैसा कि हम इस अध्याय में देखेंगे, श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देखने के बाद, जिसे अर्जुन अद्भुत, आश्चर्यजनक, प्रज्वलित, भयानक और विनाशकारी बताते हैं, और भयभीत होकर श्रीकृष्ण को एक बार फिर से उन्हें परम पुरष के रूप में अपना आकर्षक और सुंदर रूप दिखाने के लिए कहते हैं।

सञ्जय उवाच ।
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रुपमैश्वरम् ॥११-९॥

संजय ने कहा - हे महाराज धृतराष्ट्र, इस प्रकार पार्थ से बात करके, महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप का ऐश्वर्य दिखलाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥११-१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११-११॥

श्रीकृष्ण ने असंख्य मुखों और असंख्य नेत्रों वाले अपने रूप को प्रकट किया, जो कई दिव्य आभूषणों से अलंकृत और कई दिव्य अस्त्रों से सुशोभित था। उनका रूप दिव्य मालाओं और वस्त्रों से अलंकृत और दिव्य सुगंध से अभ्यंजित था। वह सबसे अद्भुत, भव्य, असीमित और सर्वव्यापी था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेयुगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥११-१२॥

यदि आकाश में असंख्य सूर्य एक साथ उदय हो, तो उनका प्रकाश संभवत: परमपुरुष के इस विश्वरूप के तेज के सदृश हो सकता है।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥११-१३॥

उस समय, पांडु पुत्र अर्जुन ने, देवों के देव श्रीकृष्ण के विश्वरूप में सम्पूर्ण जगत को देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥११-१४॥

इस तरह, विस्मय से अभिभूत होते हुए अर्जुन के रोंगटे खड़े हो गए, और उन्होंने अपने हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण को अपना अभिवादन अर्पित करते हुए कहा।

अर्जुन उवाच ।
पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ ११-१५॥

अर्जुन ने कहा - हे स्वामी, मैं आपके शरीर के भीतर समस्त देवी-देवताओं और अन्य विविध जीव-राशियों को देख रहा हूँ। मैं कमल पर आसीन ब्रह्माजी और शिवजी, ऋषियों, एवं दिव्य सों को देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ ११-१६ ॥

हे विश्वेश्वर! मैं असंख्य भुजाओं, उदर, मुंह तथा आँखों वाले आपके असीमित रूप को देख रहा हूँ। मुझे आपके इस विश्वरूप का कोई आरंभ, मध्य एवं अंत नहीं दिखाई दे रहा है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणंच तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ ११-१७॥

मैं आपके रूप को सर्वत्र देख रहा हूँ, जो अनेक मुकुटों, गदाओं तथा चक्रों से विभूषित है, और सूर्य के अपार प्रकाश की भाँति आपके सभी ओर से व्यापक तेज दीप्तिमान है, जिसके कारण आपको देख पाना कठिन है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ११-१८॥

आप वेदों द्वारा ज्ञात परम सत्य हैं। आप इस जगत के परम आधार हैं । आप धर्म के अविनाशी रक्षक हैं। आप ही परम पुरष भगवान् हैं, यही मेरा मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ ११-१९॥

मैं देख रहा हूँ कि आप आदि, मध्य तथा अन्त से रहित हैं। आपके पास असीमित शक्ति और असंख्य बाहु हैं। सूर्य और चंद्रमा आपकी आखें हैं। आपके मुख से प्रज्वलित अग्नि की भांति निकलते किरणों से सम्पूर्ण विश्व झुलस रहा है।

~ अनुवृत्ति ~

श्रीकृष्ण का विराटरूप उन्हें देखने वालो में अत्यंत विस्मय और स्तुति गान जागृत करता है, लेकिन वास्तव में, कृष्ण के भक्त इस तरह के दर्शन से आकर्षित नहीं होते हैं। विस्मय एवं आदर लगभग भय के समान हैं और जैसा कि हम देखते हैं, अर्जुन विश्वरूप का दर्शन करते हुए वास्तव में भयभीत हो जाता है। भय की स्थिति में भगवान् से प्रेम का संबंध बढ़ाने की प्रेरणा नहीं होती। इसलिए, जो भक्ति योग के मार्ग पर चलते है उनके लिए श्रीकृष्ण का विश्वरूप महत्वपूर्ण नहीं है, यह केवल इतना ही दर्शाता है कि जब तक कोई विश्वरूप प्रदर्शित नहीं करे, तब तक उसे भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

वास्तव में, कृष्ण के अलग-अलग अवतार हैं जो ब्रह्मांड में निर्धारित समय पर अवतरित होते हैं और इनका उल्लेख जयदेव गोस्वामी द्वारा इस प्रकार किया गया है -

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते ।
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्र-क्षयं कुर्वते ॥
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यं आतन्वते ।
म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

हे कृष्ण, मैं आपको नमन करता हूं जो इन दस अवतारों के रूप में अवतरित हुए हैं। मत्स्य अवतार के रूप में आप वेदों को बचाते हैं एवं कुर्म अवतार के रूप में आप अपनी पीठ पर मंडार पर्वत को उठाते हैं। वराह अवतार के रूप में आप पृथ्वी को अपने दंष्ट्र पे उठाते हैं और नरसिंह अवतार के रूप में आप हिरण्यकशिपु दैत्य की छाती फाड़ते हैं। वामन के अवतार में, दैत्यराज बलि से केवल तीन कदम भूमि का अनुरोध करके, आप अपना आकार बढ़ाते हैं और उनसे सारा ब्रह्मांड लेकर, उन्हें छलते हैं। परशुराम के अवतार में आप सभी दुष्ट योद्धाओं का वध करते हैं, और रामचंद्र के रूप में आप राक्षसों के राजा रावण से युद्ध करते हैं। बलराम के रूप में आप एक हल धारण करते हैं जिसके द्वारा आप दुष्टों पर विजय प्राप्त करते हैं और यमुना नदी को अपनी ओर खींचते हैं। बुद्ध के रूप में आप उन सभी जीवों के प्रति दया दिखाते हैं जो इस दुनिया में पीड़ित हैं, और कलियुग के अंत में आप म्लेच्छों को चकित करने के लिए कल्कि के रूप में प्रकट होते हैं। (गीत-गोविन्द १.१२)

जब हम श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ते हैं तो हम देखते हैं कि कई जगहों पर उपदेशों को दोहराया गया है, परन्तु यह कोई त्रुटि नहीं, बल्कि भावातिरेक के कारण किया गया अलंकरण है। आचार्य बालदेव विद्याभूषण इस बात की पुष्टि करते हैं (प्रसादे विस्मये हर्षे द्वितिरुक्तम् न दुषयति) एवं भगवद्गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार ए. सी. भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद, ने श्लोक १९ पर टिप्पणि करते हुए लिखते हैं - परम पुरुष भगवान् के छह ऐश्वर्य (महिमा) के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। यहां और कई अन्य स्थानों पर पुनरुक्ति है, लेकिन शास्त्रों के अनुसार, श्रीकृष्ण की महिमा को बारंबार दोहराना कोई साहित्यिक कमि नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि, हैरानी, विस्मय या हर्षोन्माद (असीम आनंद) में, बयानों का बार-बार दोहराया जाना कोई त्रुटि नहीं है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥११-२०॥

हे महापुरुष, उच्च लोकों और पृथ्वी के बीच के अंतरिक्ष सहित सभी दिशाओं में आप पूरी तरह से व्याप्त हो। आपके इस अद्भुत तथा भयानक रूप को देख कर तीनो लोक भयभीत हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥११-२१॥

देवतागण आपमें प्रवेश कर रहे हैं और अत्यन्त भयभीत होकर वे हाथ जोड़े आपकी प्रार्थना कर रहे हैं। महर्षियों तथा सिद्धों के समूह "कल्याण हो" कहकर चुनिन्दा वैदिक स्तोत्रों का पाठ करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥११-२२॥

रुद्रों, आदित्यों, वसुओं, साध्यों, विश्वेदेवों, दोनों अश्विनी कुमार, मरुतों, पित्रों, गंधर्वो, यक्षों, असुरों तथा सिद्धों सभी आपको देखते विस्मयाकुल हो गए हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥११-२३॥

हे महाबाहु! आपके इस अनेक मुखों, नेत्रों, बाहुओं, पैरों, पादों, उदरों, तथा अनेक दाँतों वाले भयानक विराट रूप को देखकर देवतागण सहित सभी लोक एवं मैं भी व्याकुल हो गया हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥१-२४॥

हे विष्णु! आकाश का स्पर्श करते आपका रूप, नाना ज्योर्तिमय रंगों से युक्त, उसके विशाल खुले मुखों और विशाल धधकती आँखों सहित देखकर मेरे अंदर कंपकंपी हो रही है, और मैं न तो अपना मानसिक संतुलन बनाए रख पा रहा हूँ, ना मै शांत हो पा रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥११-२५॥

आपके अनेक मुखों को उनके विकराल दाँतों सहित, प्रलयाग्नि की भांति प्रज्वलित देखकर मैं दिशा विहीन हो रहा हूँ, और अपना धैर्य खो रहा हूँ। मुझ पर दया कीजिए, हे देवेश्वर! हे जगन्निवास!

अमीच त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥११-२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥११-२७॥

धृतराष्ट्र के सारे पुत्र, उनके मित्रपक्ष, साथ में भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारी सेना के भी उत्तम योद्धाओं सहित, सभी आपके भयानक दातों वाले विकराल मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ के शिरों को तो मैं आपके दाँतों के बीच चूर-चूर होते देख रहा हूँ।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥११-२८॥

जिस तरह नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं और अंत में उसमें प्रवेश करती हैं, उसी तरह ये सभी प्रसिद्ध वीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ १५-२९ ॥

जिस प्रकार पतंगे अपने विनाश की ओर प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार सभी लोक आपके मुखों में अपने विनाश की ओर तेज़ी से घुसे जा रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ११-३० ॥

आप बार-बार अपने होंठों को चाटते हैं क्योंकि आप अपने प्रज्वलित मुखों से सभी दिशाओं से समस्त लोगों का भक्षण कर रहे हैं। हे विष्णु, आप अपनी तेजस्वी किरणों से संपूर्ण जगत में व्याप्त होकर उसे, जलाकर राख कर रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ११-३१ ॥

हे देवताओं में श्रेष्ठ, हे भयानक रूप वाले, मुझे बतलाएं कि आप कौन हैं? मैं आपको नमन करता हूँ, कृपा करके मुझ पर प्रसन्न हों। हे सभी की उत्पत्ति के कारण, मैं आपको जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपके लक्ष्य को पूरी तरह से समझ नहीं पा रहा हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

भगवान् के विराटरूप के दर्शन के बाद, अर्जुन व्यग्र हो चुका है और उस हद तक पहुंच गया है कि वह भूल रहा है कि श्री कृष्ण कौन हैं? अत: हम अर्जुन की स्थिति से समझ सकते हैं कि उनके द्वारा देखी गई महान शक्ति, ऐश्वर्य, वैभव, तबाही और वीभत्सता पैदा करने वाला दृश्य, हमें परम सत्य के निकट नहीं ले जा सकता।

भक्ति-योग में निसर्ग की पूजा शामिल नहीं है। निसर्ग में सत्य है, परन्तु पहले यह जानकारी होनी चाहिए कि सत्य क्या है। केवल निसर्ग के चिंतन से सरल प्रशंसा के द्वारा कोई व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है, परम सत्य का ध्यान अवैयक्तिक या अमूर्त नहीं हो सकता। श्यामसुन्दर के रूप में, श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत स्वरूप, जो तीन जगहों पर बांका है, वन के फूलों से अलंकृत है, उज्ज्वल पीतांबर वस्त्र पहने हुए हैं, यमुना के

तट पर पेड़ के नीचे बांसुरी बजाते है, यह रूप ध्यान के लिए महान ऋषियों व योगियों में सबसे अधिक अभिलाषित वस्तु है। इस श्लोक में इसका वर्णन है -

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥

मैं श्री कृष्ण का ध्यान करता हूँ, जिनकी सुंदर आंखें कमल के समान हैं, जिनकी छटा मेघश्याम है, जिनके वस्त्र बिजली की तरह चमकीले हैं, जिनके दो भुजाएं हैं, जो सुंदर वनमाला से सुशोभित हैं, और जिनका हात ज्ञान-मुद्रा में है, जो दिव्य ज्ञान का संकेत देता है। (गोपाल-तापनी उपनिषद् ९)

पीताम्बरं घनश्यामं द्विभुजं वनमालिनम्
बर्हिबर्हाकृतापीडं शशिकोटिनिभाननम्
घूर्णायमाननयनं कर्णिकारावतंसिनम्
अभितश्चन्दनेनाथ मध्ये कुम्कुमबिन्दुना
रचितं तिलकं भाले विभ्रतं मण्डलाकृतिम्
तरुणादित्यशङ्काशं कुण्डलाभ्यां विराजितम्
घर्माम्बुकणिकाराजद्दर्पणाभकपोलाकम्
प्रियामुखन्यस्तापाङ्गं लीलया योन्नतभृवम्अ
ग्रभागन्यस्तमुक्तास्फुरदुच्छसुनासिकम्
दशनज्योत्स्नया राजत्पक्कबिम्बफलाधरम्
केयूराङ्गदसद्रत्नमुद्रिकाभिर् लसत्करम्
विभ्रतं मुरली वामे पानौपद्म तथेतरे
काञ्चिदाम स्फुरन्मध्यं नूपुराभ्यां लसत्करम्
रतिकेलिरसावेशचापलं चपलेक्षणम्
हसन्तं प्रियया सार्धं हासयन्तं च तां मुहुः
इत्थं कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनोपरि
वृन्दारण्ये स्मरेत् कृष्णं संस्थितं प्रियया सह

मैं दो भुजाओं वाले श्री कृष्ण का ध्यान करता हूँ, जो वर्षाऋतु की बारिश के बादल की तरह श्याम वर्णीय हैं, जो पीताम्बर वस्त्र में सुशोभित हैं, जो वनमाला पहने हुए एवं मोर पंख धारण किये हुए हैं, और कमलों से अलंकृत

हैं। उनका रूप करोड़ों चंद्रमाओं की भांति भव्य है और उनकी आँखें चंचल हैं। उनके ललाट पर चंदन और कस्तूरी के लेप की तिलक है। उनके कर्ण की बालियां दो उगते हुए सूरज की तरह सुशोभित है, और पसीने से अभिषिक्त उनके गाल दो चमकदार दर्पणों की तरह है। उनकी आंखे उभरी हुई भौंह के साथ उनकी प्रेमिका के चेहरे की ओर चंचलता से झाँकती हैं। उनकी सुंदर उभरी हुई नाक को चमकदार मोती से सजाया गया है। उनके होंठ बिंबा के फलों की तरह लाल हैं और उनके दांतों की चांदनी से सुशोभित है। कंगन, बाजूबंद, और गहने के छल्ले से सुशोभित उनकी भुजाएं अत्यंत ही मनोरम है। अपने बाएं करकमलों में वे बांसुरी रखते हैं, उनकी कमर एक आकर्षक कमरबंद से सुशोभित है और उनके पैर सुंदर पायलों से अत्यंत ही मनोहर है। उनकी आँखें उनके दिव्य अमृत-लीलाओं के कारण चंचल रहती हैं, और वे अपने दोस्तों के साथ परिहास करते हैं, और इस प्रकार उन्हें बार-बार हंसाते हैं। वे अपने प्रिय के साथ वृंदावन के वनों में कल्पवृक्ष के नीचे रत्नों से सुसज्जित सिंहासन पर बैठते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति को श्रीकृष्ण का मनन करना चाहिए। (सनत्-कुमार संहिता ५४-६२)

श्रीभगवानुवाच ।
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११-३२॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - मैं काल हूँ, समस्त जगतों का महान विध्वंसक, और मैं यहाँ समस्त लोगों का विनाश करने के लिए आता हूँ। तुम इस युद्ध में भाग नहीं लोगे तो भी युद्ध के मैदान में सामने एकत्रित सभी योद्धा मारे जाएंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥११-३३॥

अतएव, उठो और यश पाओ! अपने क्षत्रुओं को जीतकर एक समृद्ध साम्राज्य का भोग करो! हे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर, तुम्हारे सभी क्षत्रु पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं - तुम केवल एक साधन हो।

द्रोणंच भीष्मंच जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥११-३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य वीर सैनिक मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। डरो नहीं - युद्ध करो! तुम निश्चित रूप से इस युद्ध में अपने क्षत्रुओं पर विजयी होगे।

~ अनुवृत्ति ~

दुनिया का भाग्य तो अंततः निर्दिष्ट है, लेकिन आत्मज्ञान प्राप्त करके जन्म और मृत्यु के बंधन से इस संसार को पार करने का अवसर सभी जीवों के लिए खुला है। श्रीकृष्ण कहते हैं, क्लो अस्मि लोकक्षयकृत - "इस संसार का विनाश करने वाला शक्तिशाली 'काल' में ही हूँ" यही इस दुनिया का भाग्य है। समय ही सबसे बड़ा क्षत्रु है और अंततः यह सभी चीजों को नष्ट कर देता है। यह अजेय समय कृष्ण की शक्ति है।

मासर्तु दर्वी परिघट्टनेन।
सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन ॥
अस्मिन महा मोहमये कटाहे ।
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥

> बारह महीने और छह मौसम खाना पकाने के करछी की तरह है। सूर्य खाना पकाने के लिए अग्नि है। दिन और रात सूर्य द्वारा खपतईंधन हैं। अज्ञानता खाना पकाने का बर्तन है और काल (समय) के द्वारा जीवित प्राणी उस बर्तन में पकाए जा रहे हैं। यही इस संसार की रित है! (महाभारत, वन-पर्व ३१३.११८)

१९४५ में जब न्य-मैक्सिको में पहले परमाणु बम का परीक्षण विस्फोट किया गया था, तब परमाणु भौतिक वैज्ञानिक रॉबर्ट ओपेनहाइमर ने इस अध्याय के श्लोक ३२ को उस परिस्थिति का सही अन्दाज़ा लगाते हुए याद किया था। वर्षों बाद, जब परमाणु बम के विषय पर उनकी भावनाओं के बारे में पूछा गया, तब उन्होंने निम्नलिखित बयान दिया -

> हमें पता था कि अब दुनिया वैसी ही नहीं रहेगी। कुछ लोग हँसे, कुछ लोग रोए, ज्यादातर लोग चुप थे। मुझे हिंदू धर्म ग्रंथ भगवद्गीता का वह वाक्य याद आया। जिसमें विष्णु, राजकुमार (अर्जुन) को समझाने की कोशिश कर रहे थे कि वह अपना कर्तव्य निभाए और उसे प्रभावित करने के लिए वे

अपने विराटरूप को दिखाते है ओर कहते हैं, "मैं ही मृत्यु हूँ, इस संसार का विनाश करने वाला।"

सचमुच, तब से लेकर अब तक, यह संसार एक धागे से लटकती हुई दिख रही है और, हमारा निकटस्थ विनाश (अपने हाथों से ही प्रतीत) किसी भी क्षण आ सकता है। ऐसा प्रतीत होता है की यही दुनिया का अंतिम भाग्य है - निश्चय ही सत्यानाश।

सञ्जय उवाच ।
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥११-३५॥

संजय ने कहा - केशव (श्रीकृष्ण) की बातें सुनकर, कांपते हुए अर्जुन ने प्रार्थना में हाथ जोड़कर लड़खड़ाते स्वर में श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा।

अर्जुन उवाच ।
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥११-३६॥

अर्जुन ने कहा – हे हृषीकेश, यह उचित ही है कि संपूर्ण संसार आपका सानंद गुण गान करे और आपके प्रति आकर्षित हो। किंतु दुष्ट भयभीत होकर सभी दिशाओं में पलायन करते हैं और सिद्धपुरुष आपको नमन करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेन्महात्मनगरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥११-३७॥

हे महात्मा! आप इस ब्रह्माण्ड के रचयिता ब्रह्मा से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। तो फिर सभी आपको सादर नमस्कार क्यों न करें? हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास! आप नित्य हैं, अस्तित्वमान और अस्तित्वहीन के परे हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥११-३८॥

आप आदि देव, सनातन पुरुष तथा इस संपूर्ण ब्रह्मांड के एकमात्र आश्रय हैं। आप ही ज्ञाता हैं और आप ही जानने योग्य हैं। आप परम आश्रय हैं और आपके अनंत रूप से सम्पूर्ण ब्रह्मांड व्याप्त है।

**वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥११-३९॥**

आप ही वायुदेव हो, आप ही यमराज हो, आप ही अग्निदेव हो, आप ही वरुणदेव हो, आप ही इस सृष्टी के रचयिता एवं सभी के प्रपितामह हो। मैं आपको सहस्त्रों बार पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

**नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥११-४०॥**

आपको आगे, पीछे, तथा सभी दिशाओं से मेरा सादर प्रणाम है। हे असीम शक्ति के स्वामी, आप सर्वव्यापी हैं, अतः आप ही सब कुछ हैं।

**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥११-४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥११-४२॥**

मैं आपकी महिमा से अनभिज्ञ था और आपसे सुपरिचित होने के कारण मैंने आपको अज्ञानवश सखा कहकर संबोधित किया। मैंने जो कुछ भी आकस्मिक रूप से आपसे कहा, जैसे कि 'हे कृष्ण, हे यादव, हे मित्र', और मैंने परिहास में या आपके साथ खेलते हुए, या आराम करते हुए, साथ-साथ खाते या बैठे हुए, कभी अकेले में तो कभी दूसरों के समक्ष, जो कुछ आपका अनादर किया है, उसके लिए, हे अचिन्त्य, हे अविनाशी, मेरे इन सभी कृत्यों के लिए मुझे क्षमा करें।

**पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥११-४३॥**

आप इस ब्रह्मांड के सभी चर तथा अचर प्राणियों के जनक हैं। आप परम पूज्य महान गुरु हैं। तीनों लोकों में न तो कोई आपके तुल्य है, न ही कोई आपके समान हो सकता है। हे अतुलनीय शक्ति के प्रभु, आपसे बढ़कर कोई कैसे हो सकता है?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥११-४४॥

इसलिए हे प्रभु, मैं आपको साष्टांग प्रणाम करता हूँ और आपसे विनती करता हूँ मुझपर दया करें। हे कृष्ण, कृपया मेरे त्रुटियों को क्षमा करें जैसे एक पिता, मित्र या प्रेमी अपने पुत्र, मित्र या प्रिय को क्षमा कर देते हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥११-४५॥

पहले कभी न देखे गये आपके विराट रूप का दर्शन करके मैं हर्षित हो रहा हूँ, किन्तु मेरा मन साथ ही भयभीत भी गया है। अत: हे देवेश, आप कृपा करके अपना नारायण स्वरूप पुनः दिखाएँ जो समस्त जगत का आश्रय है।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥१५-४६॥

हे विराट रूप! हे सहस्रभुज! मैं, आपके मुकुट पहने हुए ओर अपने हाथ में सुदर्शन चक्र धारण किये हुए चतुर्भुज रूप के दर्शन करना चाहता हूँ!

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन ने श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देखकर उनकी प्रशंसा एवं स्तुति की, किन्तु तब उन्हें पछतावा भी हुआ कि उन्होंने कई बार श्रीकृष्ण को "हे कृष्ण," "हे मित्र" का संबोधन करके या उनके साथ खेलते या आराम करते हुए उन्होंने उनका अनादर किया। अर्जुन ने अपने द्वारा किए गए किसी भी उल्लंघन के लिए कृष्ण से क्षमा याचना की और फिर कृष्ण से वे निवेदन करते हैं कि वह उन्हें अपना चतुर्भुज नारायण का रूप दिखाए।

अर्जुन का कृष्ण के साथ साख्य-रस में शाश्वत संबंध है, और वे केवल क्षण भर के लिए इसे भूल गए हैं। इसी तरह, सभी जीवों का कृष्ण के साथ एक मित्र, सेवक, माता-पिता या प्रेमी के रूप में एक शाश्वत संबंध है और इस संबंध को भक्ति-योग की प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। कृष्ण का सभी जीवों के साथ संबंध शाश्वत है, इस बात की पुष्टि इस प्रकार की जाती है -

स नित्योऽनित्य सम्बन्धः प्रकृतिश्च परैव सा

सभी जीव नित्य हैं और अनंत काल से लेकर अनंत समय तक कृष्ण के साथ उनका संबंध शाश्वत है। (ब्रह्म-संहिता ५.२१)

श्रीभगवानुवाच।
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥११-४७॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया - हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी दिव्य शक्ति के बल पर अपने इस तेजोमय, अपरिमित, मौलिक विश्वरूप के दर्शन करवाए हैं। यह रूप पहले कभी किसी ने नहीं देखा।

नवेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरुपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥११-४८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! इस नश्वर संसार में कोई भी इस रूप को देख नहीं सकता जो मैंने तुम्हारे सामने प्रकट किया है - न तो वेदों के अध्ययन से, न ही वैदिक यज्ञ के द्वारा, न दान से, न अनुष्ठान से, न ही कठोर तपस्या के द्वारा।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥११-४९॥

मेरे इस भयानक रूप को देखकर भयभीत न हों। हतप्रभ न हों। शान्त चित्त होकर अपने इच्छित रूप के दर्शन करो।

सञ्जय उवाच ।
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥११-५०॥

संजय ने कहा - इस प्रकार बोलते हुए, वासुदेव श्रीकृष्ण ने अपना चतुर्भुज रूप दिखाया और फिर अपने सुंदर दो भुजाओं वाले रूप में प्रकट होकर भयभीत अर्जुन को शांत किया।

अर्जुन उवाच।
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥११-५१॥

अर्जुन ने कहा - हे जनार्दन! आपके सुन्दर मानवी रूप को देखते हुए, मेरा मन शांत हो गया है और मैंने अपना आत्मसंयम पुनः प्राप्त कर लिया है।

श्रीभगवानुवाच।
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रुपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥११-५२॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - तुम मेरे जिस रूप को इस समय देख रहे हो, उसके दर्शन पाना बहुत दुर्लभ है। यहाँ तक कि देवता भी इस रूप के केवल झलक पाने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥११-५३॥

तुम जिस रूप को देख रहे हो, उसे न तो वेदाध्ययन से, न कठिन तपस्या से, न दान से, न ही यज्ञो व अनुष्ठानों के माध्यम से देखना संभव है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥११-५४॥

हे अर्जुन, हे क्षत्रु विजयी! केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही पूर्ण रूप में मुझे जाना जा सकता है। भक्ति-योग से ही मेरा साक्षात दर्शन किया जा सकता है, मुझे प्राप्त किया जा सकता है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥११-५५॥

हे पांडुपुत्र, मेरे भक्त जो मेरी सेवा करते हैं, मुझे सर्वोच्च मानते है, सभी भौतिक आसक्तियों का त्याग करते हैं, और जो सभी प्राणियों के लिए द्वेष से मुक्त हैं, वे मुझे प्राप्त कर सकते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

चूंकि अर्जुन का श्रीकृष्ण के साथ नित्य संबंध है किन्तु वैकुंठ के नारायण के साथ नहीं, श्री कृष्ण समझ सकते थे की वे (अर्जुन) उनका नारायण रूप देखकर भी शांत नहीं हुए, इसलिए श्रीकृष्ण ने अपना मूल दो-भुजाओं वाला

श्यामसुन्दर रूप पुन: ग्रहण किया। जिनका कृष्ण से सीधा संबंध है, वे अत्यंत भाग्यशाली हैं, और वे कृष्ण के मूल रूप के अलावा किसी अन्य अवतार को देखकर कभी संतुष्ट नहीं होते हैं। इसी तरह की स्थिति बृहद्भागवतामृत नामक पुस्तक में वर्णित है, जिसमें गोप-कुमार ने स्वयं को वैकुण्ठ में नारायण के समक्ष पाया, परन्तु वहां वे संतुष्ट न हो सके। चूंकि गोप-कुमार का गोलोक वृंदावन में कृष्ण के साथ एक शाश्वत संबंध है, यहां तक कि वैकुण्ठ में राजसी नारायण की उपस्थिति में भी उन्हें तृप्त नहीं किया जा सका। उन्होंने अपनी यात्रा को जारी रखा और अंत में वे परम धाम एवं श्रीकृष्ण के मधुर आलिंगन में पहुंच गए। यही कृष्ण के भक्त का सौभाग्य है, जो सदैव उनके द्वारा निर्देशित होते हैं और अंततः उनके मधुर आलिंगन को प्राप्त करते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए विश्वरूपदर्शन योग नामक ग्यारहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १२

भक्ति योग

अर्जुन उवाच ।
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२-१॥

अर्जुन ने कहा - योग में सबसे बेहतर कौन स्थित है - जो सदैव आपकी उपासना करते हैं या जो आपके अवैयक्तिक, अविनाशी रूप में स्थित रहते हैं?

श्रीभगवानुवाच ।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥१२-२॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - जो अपने मन को मुझ पर एकाग्र करते हैं, निरंतर मेरी महिमागान करते हैं, और मुझ पर अत्यंत श्रद्धा रखते हैं - मैं उन्हें परम सिद्ध मानता हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

अब तक भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपने व्यक्तिगत, अवैयक्तिक और सर्वव्यापी पहलुओं के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के योगियों की व्याख्या की है। अब अर्जुन ने विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूछा है कि कौन सा मार्ग सर्व-श्रेष्ठ है - भक्ति-योग का जो सीधे श्रीकृष्ण पर केन्द्रित है और जो भक्ति के कार्यों से संपन्न होता है, या अवैयक्तिक-मार्ग जिसमे श्रीकृष्ण के ब्रह्मन (ब्रह्म-ज्योति) की प्रभा पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास होता है।

आध्यात्म के पथ पर शुरुआत करनेवाले बहुत से व्यक्तियों का यही प्रश्न है - कौन सा मार्ग बेहतर है, व्यक्तिगत या अवैयक्तिक? यहां, श्रीकृष्ण कहते हैं कि व्यक्तिगत मार्ग सर्व-श्रेष्ठ है। भक्ति-योगी जिसका ध्यान श्रीकृष्ण के सुन्दर रूप पर केन्द्रित है एवं जो पूरी श्रद्धा तथा दृढ संकल्प के साथ उनकी महिमागान करता है वही योगियों में सर्व-श्रेष्ठ है।

आत्म-साक्षात्कार के व्यक्तिगत मार्ग पर चलने वाले भक्ति-योगी को वैष्णव कहा जाता है। अवैयक्तिक मार्ग पर चलने वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं - ब्रह्मवादी(वेदांतवादी), शून्यवादी (बौद्ध) और मायावादी (आदि शङ्कराचार्य के अनुयायी)। ब्रह्मवादी वे हैं जो स्वयं (आत्मा) को श्रीकृष्ण के शारीरिक आभा (ब्रह्म-ज्योति) में विलीन हो जाना चाहते हैं। शून्यवादी सब कुछ मिटाकर,

शून्य में प्रवेश करना चाहते हैं, और मायावादी स्वयं ही भगवान् बनने का प्रयास करते हैं।

ब्रह्मवादी ब्रह्म-ज्योति में विलय होना चाहते हैं, किंतु उन्हें श्रीकृष्ण के व्यक्तिगत रूप के बारे में अल्प जानकारी या कोई जानकारी नहीं होती। अत: वे कई जन्मों के बाद ही श्रीकृष्ण के पास पहुँचते हैं, जैसा कि इस अध्याय के श्लोक ४ में बताया जाएगा। आत्म साक्षात्कार के इतिहास में, ब्रह्मन के साक्षात्कार में असफल हुए योगियों एवं ब्रह्मवादियों के बहुत से उदाहरण हैं, यहाँ तक कि चार-कुमार, वसिष्ठ मुनि, शुकदेव गोस्वामी और अन्य जैसों के भी विवरण हैं, जिन्होंने ब्रह्मन की प्राप्ति के पश्चात, भक्ति-योग के उच्च आनंद के लिए अपनी प्राप्ति का त्याग कर दिया। शून्य के साधकों को कभी सफलता नहीं मिलती क्योंकि शून्य का अस्तित्व ही नहीं है। कहीं कोई शून्य नहीं है। श्रीकृष्ण के बाहर या परे कुछ भी नहीं है और इसलिए शून्यावादियों को जीवन के अंत में बहुत निराशा होती है। मायावादी, श्रीकृष्ण के व्यक्तिगत रूप को माया कहकर उसका अस्वीकार करते हैं और वे स्वयं भगवान् बनना चाहते हैं। मायावादियों को अपराधी माना जाता है और वे जन्म और मृत्यु के संसार में लौट आते हैं।

भगवद्गीता में सर्वत्र श्रीकृष्ण के उपदेश एकरूप है कि वे बारबार इस बात की पुष्टि करते हैं कि भक्ति-योग ही सर्वश्रेष्ठ है। सभी तरह के योगियों, ज्ञानियों, दार्शनिकों, एवं समाज-सेवियों में, भक्ति-योगी जो बिना किसी भौतिक इच्छाओं के या मोक्ष की कामना के पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण में निमग्न हैं, वही सबसे श्रेष्ठ है और उन्हें अत्यंत प्रिय हैं।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकुल्येन कृषणानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

> भक्ति-योग के सर्वोच्च स्तर पर व्यक्ति सभी भौतिक इच्छाओं, भौतिक गतिविधियों, एवं मोक्ष की कामना से रहित होता है। इस तरह के भक्ति-योग को श्रीकृष्ण की इच्छाओं के अनुकूल किया जाना चाहिए। (भक्ति-रसामृत-सिन्धु १.१.११)

इस बात की और भी पुष्टि, अब तक के सबसे बड़े अवैयक्तिक दार्शनिक श्रीपाद आदि शङ्कराचार्य ने की है, जिन्होंने अपने शिष्यों को डांटकर कहा था कि उन्हें केवल श्रीकृष्ण की उपासना करनी चाहिए। कुछ और करने की आवश्यकता नहीं।

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ मते ।
सम्प्राप्ते सन्निहिते काले न हि न हि रक्षति डुकृञ् करणे ॥

हे मूर्ख छात्रों, व्याकरण के नियमों को रटना और तुम्हारी तार्किक अटकलबाज़ियां तुम्हें मृत्यु के समय नहीं बचा पाएंगी। केवल गोविन्द को भजो, गोविन्द को भजो, गोविन्द को भजो! (मोहमुद्गर १)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलन्ध्रुवम् ॥१२-३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥१२-४॥

यद्यपि, जो अपने इन्द्रियों को नियंत्रित रखते हैं, जो सभी परिस्थितियों में शांतचित रहते हैं, जो सभी जीवों की सहायता करने तत्पर रहते हैं, और जो मेरे अगाध, अवैयक्तिक, अचिन्त्य, अविकारी, सर्वव्यापी, एवं अचल पहलू की उपासना करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥१२-५॥

जिनका मन मेरे अवैयक्तिक पहलू पर आसक्त है उनके लिए बहुत सी कठिनाइयां हैं। देहबद्ध जीवों के लिए उस पथ पर प्रगति करना बहुत ही कष्टकर होता है।

~ अनुवृत्ति ~

ब्रह्मन (ब्रह्म-ज्योति) श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप की कांति है। उसी रूप में वह शाश्वत, अगाध, अचिन्त्य, अविकारी, सर्वव्यापी, अचल, और सर्वशक्तिमान है। विष्णु-पुराण में इसका उल्लेख इस प्रकार है -

यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमक्षयम् ।
अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् ॥
विभुं सर्वगतं नितयं भूतयोनिमकारणम् ।
व्याप्यव्याप्तयत: सर्वं तद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥

परम सत्य का ब्रह्मन तत्त्व अव्यक्त, समय से अप्रभावित, अचिन्त्य, भौतिक स्रोत रहित, अक्षय व अक्षीण, अनिर्वचनीय, निराकार, बिना हाथों पैरों या

अन्य अंगों के, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, शाश्वत, भौतिक पदार्थों का स्रोत, भौतिक कारण रहित, सभी वस्तुओं में उपस्थित, हालांकि कोई भी वस्तु उसमें स्थित नहीं, भौतिक जगत का उद्गम, और दिव्यदर्षियों के दृष्टि का विषय है। (विष्णु-पुराण ६.५.६६-६७)

श्रीकृष्ण की कांति उनसे अलग नहीं है, और वे करोडों सूर्यों की तरह ज्योतिर्मय हैं।

वासुदेवादभिन्नस्तु वन्यर्केन्दुशतप्रभम् ।
वासुदेवोऽपि भगवांस्तद्धर्मा परमेश्वरः ॥
सवां दीप्तिं क्षोभयत्येव तेजसा तेन वै युतम् ।
प्रकाशरूपो भगवानच्युतम् चासकृविज ॥

अवैयक्तिक ब्रह्म-ज्योति का तेज अनन्त ज्वालाओं, सुर्यों और चंद्रों की भांति है। ब्रह्म-ज्योति वासुदेव (कृष्ण) से अभिन्न है। वासुदेव सर्वमंगल गुणों से भरपूर हैं और उनका स्वभाव ऐसा है कि वे ही परम नियंत्रक हैं। जब वे अपने ब्रह्म-ज्योति के आवरण को हटाते हैं, तब कृष्ण अपना मूल, नित्य, एवं दिव्य स्वरूप प्रकट करते हैं। (नारद पञ्चरात्र)

अव्यक्त में मोक्ष वे लोग चाहते हैं जो भौतिक अस्तित्व से निराश हैं, किंतु उन्हें कृष्ण का कोई ज्ञान नहीं होता। अवश्य भौतिक गतिविधियों से उदासीनता व निवृत्ति की भावना सराहनीय है, परन्तु कृष्ण कहते हैं कि इस मार्ग में बहुत ही परेशानियां हैं।

यदि कोई हर स्थिति में समान रहकर, अव्यक्त ब्रह्म-ज्योति के लिए साधना करता है, और उसी समय अन्य जीवों की सहायता हेतु तत्पर रहता है, तो ऐसा व्यक्ति अंततः कृष्ण चेतना के स्तर पर पहुंच सकता है। परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि अव्यक्त का मार्ग अत्यंत कष्टकर है और दुष्प्राप्य है। अतः, अपेक्षित है कि ऐसे पथ पर आरोहण करते अनेक जीवनकाल निकल जाते हैं, और सम्पूर्ण विफलता एवं नुकसान की भी संभावना होती है।

जैसा कि उपर कहा गया है, ब्रह्मवादियों को वेदाध्ययन के साथ साथ इन्द्रियों का नियंत्रण भी करना चाहिए। अनेक जीवनकाल के पश्चात्, ज्ञान की साधना से, जब ब्रह्मवादी यह समझ लेते हैं कि श्रीकृष्ण ही सबकुछ हैं (वासुदेवः सर्वमिति), तब अंततः वे श्रीकृष्ण के पास पहुंचते हैं। शून्यवादी और मायावादी तब तक

कृष्ण के पास नहीं पहुंचते जब तक की वे भक्ति-योग का मार्ग न अपना लें। परन्तु, एक वैष्णव, श्रीकृष्ण के पास एक ही जीवनकाल में पहुंच सकते हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मांध्यायन्त उपासते ॥१२-६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥१२-७॥

हे पार्थ, जो सभी कर्मों का त्याग करके उन्हें मुझ पर समर्पित करते हैं, जो मेरा आश्रय लेते हैं, जो मेरे साथ सम्पर्क बढ़ाने हेतु मेरे ध्यान में संपूर्ण रूप से निमग्न रहते हैं - मैं उन्हें तुरंत जन्म और मृत्यु के सागर से पार करता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२-८॥

केवल मुझ पर ही अपने मन एवं बुद्धि को दृढ करो और अंततः तुम मेरे पास आओगे। इसमें कोई संदेह नहीं।

~ अनुवृत्ति ~

जो देहबद्ध हैं, उनके लिए इस संसार के सागर को पार करना कठिन है क्योंकि इसमें खतरे बहुत हैं। परन्तु यदि कोई श्रीकृष्ण के पदकमलों के शरण लेता है तो वे उसे आसानी से दुःख के सागर से पार करते हैं, उसी तरह जैसे कोई नैया में किसी को नदी के पार ले जाता है।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां ।
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति ॥
तत् त्वं हरेर भगवतो भजनीयमधिं ।
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥

इस जीवन में, अज्ञान के सागर को पार करना बहुत ही कष्टकर है क्योंकि यह सागर, छः हाँगरों (Shark) जैसे इन्द्रियों से ग्रस्त है। जिन्होंने श्रीकृष्ण का आश्रय स्वीकार नहीं किया है, वे इन सागर को पार करने के लिए कठोर नियमों एवं तपस्याओं को झेलते हैं। किंतु तुम्हे केवल श्रीकृष्ण के परम पूजनीय पदकमलों को नाव बनाकर इस घोर सागर को पार करना चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् ४.२२.४०)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥१२-९॥

धनञ्जय, यदि तुम अपना मन मुझ पर स्थिर नहीं कर सकते, तो भक्ति-योग के सतत अभ्यास द्वारा मेरे पास पहुंचने का प्रयास करो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१२-१०॥

यदि तुम भक्ति-योग के अभ्यास को कायम नहीं रख सकते तो केवल अपने कर्मों को मुझे अर्पण करो। इस प्रकार तुम परम सिद्धी प्राप्त कर सकोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥१२-११॥

यदि तुम यह भी नहीं कर पाए, तो अपना कर्म करो और उसके फलों को मुझे अर्पण करो। मन को को वश में रखकर, अपने कर्मों के सारे फलों का त्याग करो।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२-१२॥

यदि तुम इस उपदेश का पालन न कर पाए, तो अपने आप को ज्ञान की साधना में नियुक्त करो। यद्यपि, ध्यान, ज्ञान से श्रेष्ट है। ध्यान से बेहतर है भौतिक लाभों का त्याग, क्योंकि ऐसे त्याग से शांति प्राप्त होती है।

~ अनुवृत्ति ~

भक्ति-योग के दो रास्ते हैं - प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। श्री कृष्ण अर्जुन से श्लोक ८ में कहते हैं कि प्रत्यक्ष है, "अपने मन व बुद्धि को केवल मुझ पर स्थिर करो।" इस स्थिति को रागानुगा-भक्ति, या स्वाभाविकी भक्ति कहते हैं जो शास्त्रों के विधि-नियमों के आधार से स्वतंत्र है। परन्तु रागानुगा-भक्ति की यह स्थिति को प्राप्त करना, विशेषकर नौसिखियों के लिए, आसान नहीं होता। इस हालात में श्रीकृष्ण रागानुगा-भक्ति के अप्रत्यक्ष मार्ग की संस्तुति करते हैं, जो है शास्त्रों के विधि-नियमों का सतत अभ्यास करना, जिसे साधना-भक्ति कहते हैं। यदि ऐसी साधना संभव नहीं है, तो कृष्ण कहते हैं कि हमें उनके लिए कर्म करना चाहिए। यदि यह भी संभव नहीं, तो ज्ञान की साधना करनी चाहिए जिससे कि

हम जान सके कि शरीर क्या है, आत्मा क्या है, और कृष्ण कौन हैं। इस प्रकार किसी भी स्थिति से व्यक्ति क्रमशः ऊपर उठेता और अंततः वह श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष सेवा की रागानुगा-भक्ति के सर्वोच्च स्तर पर पहुंचता है। इसका उल्लेख श्री ब्रह्म-संहिता में इस प्रकार है -

प्रबुद्धे ज्ञानभक्तिभ्यामात्मन्यान्द चिन्मयी।
उदेत्यनुत्तमा भक्तिर्भगवत्प्रेम लक्षणा ॥

जब ज्ञान एवं भक्ति के माध्यम से दिव्य अनुभूति, परम भक्ति उदय होती है, जिसे श्रीकृष्ण के लिए शुद्ध प्रेम की उपस्थिति से पहचाना जाता है, तब हृदय में आत्मा के परमप्रिय तत्त्व का उदय होता है। (ब्रह्म-संहिता ५.५८)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१२-१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१४॥

वह व्यक्ति जो द्वेष रहित है, सभी जीवों के लिए मित्रतापूर्ण व करुणामय है, जो स्वत्वात्मकता से रहित है, अहंकार से रहित है, सभी परिस्थितियों में निष्पक्ष है, क्षमाशील है, योग का आत्मसंतुष्ट साधक है, आत्मसंयमी है, जिसका संकल्प दृढ़ है, और जिसके मन और बुद्धि मेरे चिन्तन में निमग्न रहते हैं - वह व्यक्ति मेरा भक्त है और इसलिए वह मुझे अत्यंत ही प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२-१५॥

जो न कभी किसी को कष्ट देता है न कभी दूसरों से पीड़ित होता है, जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से मुक्त रहता है, वह मुझे बहुत प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१६॥

जो विरक्त, स्वच्छ, निपुण, उदासीन, एवं व्यथा रहित है, और जो सभी स्वार्थी कामनाओं का त्याग करता है, वह मुझे अत्यंत प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१२-१७॥

वह जो न हर्षोल्लास करे न द्वेष करे, जो न शोक करे न आकांक्षा करे, जो दोनो शुभ और अशुभ का परित्याग करे - वह व्यक्ति भक्तिमान है और मुझे बहुत प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१२-१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२-१९॥

वह जो मित्र और क्षत्रु दोनों के लिए समान रहे, यश और अपयश, गर्मी और सर्दी, सुख और दुःख, सभी में समान रहे, जो विरक्त रहे, जो निन्दा और प्रशंसा में समान रहे, जो अपने वचनो को नियंत्रित रखे, जो सभी परिस्थितियों में संतुष्ट रहे, जिसे अपने घर या निवास से लगाव नहीं, और जिसका मन स्थिर है - वह व्यक्ति भक्तिमान है और मुझे अत्यंत प्रिय है।

ये तु धामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१२-२०॥

जो श्रद्धावान हैं और जो मुझ से वर्णित इस धर्म के सनातन पथ का अनुसरण मुझे ही सर्वोच्च मानकर करते हैं - वे मुझे अत्यंत प्रिय हैं।

~ अनुवृत्ति ~

दुनिया में सभी शांति और सामंजस्य देखना पसंद करते हैं, किंतु जो वास्तव में परिस्थिति है वह इसके ठीक विरुद्ध है। श्लोक १३ से २० आज की दुनिया के अधिकतम समस्याओं का सरल समाधान प्रस्तुत करते हैं, और वह है व्यष्टि का आत्मसुधार। दूसरे शब्दों में, यदि लोग कृष्ण के बताए हुए इन गुणों को स्वयं में विकसित करने का प्रयास करते हैं, तो दुनिया बहुत बेहतर जगह होगी। आज दुनिया जैसी है, वहां सज्जनों के लिए कोई जगह नहीं है। द्वेष रहित होना, सभी जीवों के लिए मित्रतापूर्ण व दयालु होना, स्वत्वात्मकता की भावना से रहित होना, अहंकार विहीन होना, सभी परिस्थितियों में निष्पक्ष होना, करुणामय होना, आत्मसंयमित होना, और संकल्प में दृढ़ होना आदि, वास्तव में महान

गुण हैं। किंतु इन्हें लोग अपने में कैसे विकसित करें?

स्वतंत्र रूप से इन गुणों को और भगवद्गीता में हर जगह उल्लेखित अन्य वांछनीय गुणों को विकसित करना कठिन है। देखा जाता है कि कभी कभी व्यक्ति में इनमें से एक, दो, या तीन गुण होते हैं, किंतु कहां है वह व्यक्ति जिसमें ये सभी गुण उपस्थित हैं?

श्रीकृष्ण भगवद्गीता में उत्तर देते हैं - भक्ति-योगी बनें, कृष्ण का आश्रय स्वीकार करें, और सब कुछ उनपर समर्पित कर दें। आत्मा स्वाभाविक रूप से ही उन सभी अच्छे गुणों से संपूर्ण है जो कभी भी मनुष्य से वांछनीय हुआ है। जब हमारा मन, हमारी बुद्धि, और चेतना कृष्ण की संगति द्वारा भक्ति-योग की प्रक्रिया से शुद्ध हो जाते हैं, तब सारे वांछनीय गुण विकसित हो जाते हैं। इसलिए, जीवन का खुला रहस्य यही है कि सब भक्ति-योग के योगी बनें। इस प्रकार दुनिया एक बेहतर जगह बन सकती है।

अच्छे गुणों में सबसे ऊंचा गुण है परम पुरुष के लिए भक्ति का गुण, जिसके माध्यम से अन्य सभी गुण बहुलता में विकसित होते हैं। स्वतंत्र रूप से इन गुणों के विकास से कोई कृष्ण को प्रिय नहीं हो जाता। इन सभी गुणों को कृष्ण की भक्ति के अधीन किया जाना चाहिए। जो इस प्रकार जीवन बिताता है वही सच्चा भक्ति-योगी है और वह कृष्ण को बहुत प्रिय है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए भक्ति योग नामक बारहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १३

प्रकृति-पुरुष विवेक योग

अर्जुन उवाच।
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥१३-१॥

अर्जुन ने कहा - हे केशव मैं भौतिक प्रकृति, इसके भोक्ता, क्षेत्र, क्षेत्र के ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञान के विषय को जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच।
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१३-२॥

भगवान् श्री कृष्ण ने उत्तर दिया - हे कुंती पुत्र, इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है और जो इस क्षेत्र को जानता है, प्रज्ञ उन्हें क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥१३-३॥

हे भारत! तुम्हें यह जानना चाहिए कि मैं ही सभी क्षेत्रों का ज्ञाता हूँ। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही मैं वास्तविक ज्ञान मानता हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

वास्तविक रूप में ज्ञान का आधार, अर्थात, भौतिक पदार्थ, चेतना एवं परम चेतना (परमेश्वर) में अंतर करने की क्षमता का आगे इस अध्याय में वर्णन किया जाएगा। पिछले कुछ शताब्दियों में पश्चिमी विज्ञान की समझ यह प्रस्तावित करती है कि चेतना कुछ गूढ भौतिक पदार्थों के मिश्रण से उत्पन्न होती है। दुसरे शब्दों में यह, उनका यह निष्कर्ष है की शरीर ही आत्मा है। यद्यपि, श्रीमद्भगवद्गीता ऐसे समझ को अज्ञानतापूर्ण मानती है। भौतिक प्रकृति एवं आत्मा, जो शरीर का चेतन ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) है, इनकी समझ के बिना वास्तविक ज्ञान का कोई आधार नहीं है। दोनो एक दुसरे से बिलकुल अलग है, ओर जो इस बात को समझता है वही वास्तव में ज्ञानी है।

भौतिक शरीर तीन अतिसूक्ष्म पदार्थों (मन, बुद्धि और मिथ्या अहंकार) एवं पाँच स्थूल पदार्थों (पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और अंतरिक्ष) से बना होता है, जिसे क्षेत्र कहते हैं। अन्तर्यामिता चेतना (आत्मा) को क्षेत्र का ज्ञाता माना जाता है, और परम चेतना जो सभी शरीरो में और व्यक्तिगत चेतना में स्थित है वह समस्त

क्षेत्रों के गतिविधियों का ज्ञाता है। यह इस अध्याय का विषय है और इसे जानने के बाद व्यक्ति इस भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥१३-४॥

अब मुझसे यह संक्षेप में सुनों कि वह क्षेत्र क्या है, किन वस्तुओं का वह बना है, उसके विकार क्या हैं, उसकी उत्पत्ति और क्षेत्र का ज्ञाता कौन है और उसका उसपर प्रभाव क्या है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥१३-५॥

यह ज्ञान अलग-अलग ऋषियों द्वारा, वेदों द्वारा, विभिन्न रूप से छंदो में वर्णित है, और वेदांत-सूत्र के तार्किक निर्णयात्मक अध्यायों में पाया जाता है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥१३-६॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥१३-७॥

इसके मुख्य तत्त्व, मिथ्या अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त भौतिक प्रकृति, दस इंद्रियां, मन, पांच इंद्रिय-वस्तुएं, इच्छा, घृणा, सुख, पीड़ा, स्थूल शरीर, चेतना और संकल्प हैं। यहाँ वर्णित इन सभी तत्त्वों को क्षेत्र माना जाता है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥१३-८॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥१३-९॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१३-१०॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१३-११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३-१२॥

इच्छाहीनता, विनम्रता, अहिंसा, सहिष्णुता, सादगी, आध्यात्मिक गुरु की सेवा, पवित्रता, दृढ़ता, आत्म-नियंत्रण, इंद्रिय संतुष्टि से वैराग्य, मिथ्या अहंकार का न होना, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था एवं व्याधि का बोध होना, अनासक्ति, पत्नी, बच्चों तथा गृहस्थ जीवन के प्रति लगाव से मुक्ति, सुखी और संकटपूर्ण परिस्थितियों में सदैव समवृत्ति बनाए रखना, मेरे प्रति निरंतर और दृढ़ भक्ति का होना, एकांत स्थान में निवास करना, जनसाधारण के साथ सामाजिकता की इच्छा से मुक्त होना, आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने में दृढ़ संकल्प का होना, पूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखना - इन सभी गुणों को ज्ञान कहा गया है, और इनके विरोधी गुणों को अज्ञान कहा गया है।

~ अनुवृत्ति ~

यहां, ज्ञान की वास्तविक सम्पत्ति का वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा मनुष्य, जीवन की पूर्णता (सिद्धि) प्राप्त कर सकता है। श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया यह विस्तृत विवरण एक व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर करता है, जिसके द्वारा वह अज्ञानता से मुक्त हो जाता है। दुर्भाग्यवश, पूर्वी और पाश्चात्य, दोनों आधुनिक समाजों में इस ज्ञान की पूरी तरह से कमी है। ज्ञान के सभी समकालीन क्षेत्रों, अर्थात् जीव विज्ञान, भौतिकी, गणित और दर्शन, शरीर को स्वयं के रूप में स्वीकार करते हैं और मन, बुद्धि, अहंकार और इंद्रियों के संतुष्टि एवं भोग को ही जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं। यह समझना कि एक जीवन ही सब कुछ है और मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं है, यह पूरी तरह से जीवन के वास्तविक उद्देश्य से रहित है।

भौतिक संसार जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोग का स्थान है, और कभी कभी इसे मृत्यु-लोक भी कहा जाता है। सभी जीवित प्राणियों की वास्तविक समस्याएं जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और बीमारी है चाहे वे किसी भी जाति, राष्ट्रीयता या धर्म के हो। कोई भी ज्ञान जिसका उद्देश्य इन दुखों की समाप्ति नहीं है, वह निश्चित रूप से अधुरा ज्ञान है। बेशक, दवाएं, सर्जरी और चिकित्सा मशीनें हैं जो जन्म के दर्द को कम करती हैं, बुढ़ापे की प्रक्रिया को धीमा करती हैं, कुछ बीमारियों को ठीक करती हैं और मरने की प्रक्रिया को लम्बा खींचती हैं, लेकिन ये केवल काम चलाऊ या अस्थायी समाधान हैं। व्यक्ति को जीवन के इन मूल समस्याओं को पहचानना चाहिए और जिज्ञासु होना चाहिए की इसका वास्तविक समाधान कहा मिलेगा।

आधुनिक वैज्ञानिक और दार्शनिक समझ के विपरीत, भगवद्गीता कहती है कि यह एक जीवन सब कुछ नहीं है, और मृत्यु के बाद जीवन है। इस भौतिक दुनिया में आने से पहले जीवन था और यह जीवन अनंत काल तक जारी रहेगा। वास्तव में जो बदलता है वह केवल शरीर है। भविष्य में, धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए उच्च लोको में स्वर्गीय सुख को भोगने का जीवन प्राप्त होता है, जबकि अज्ञानी निम्न प्रजाति, जैसे जानवरों या पौधों के शरीर को धारण करते हैं, और योगियों एवं चेतना और परम चेतना के ज्ञान का अर्जन करने वालों के भविष्य का अस्तित्व, भौतिक जगत से परे वैकुण्ठ लोको में होता है। वहां, जीवन शाश्वत है और शरीर जिससे बना होता है उसे सत्-चित्-आनंद (नित्यत्व, ज्ञान, एवं आनंद) कहते है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३-१३ ॥

अब मैं ज्ञान के उद्देश्य (ज्ञेय) का वर्णन करूंगा, जिसे जानकर व्यक्ति अमरता को प्राप्त कर लेता है। यह मेरे अधीनस्थ है और यह परम ब्रह्मन है जो भौतिक कारण व प्रभाव से परे है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३-१४ ॥

उसके हाथ और पैर सर्वत्र हैं। उसकी आंखें, सिर और मुंह सर्वत्र हैं। उसके कान सर्वत्र हैं। इस प्रकार वह सभी वस्तुओं में व्याप्त है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १३-१५ ॥

वह सभी इंद्रियों और उनके प्रकार्यों को प्रकाशित करता है, हालांकि वह स्वयं किसी भी भौतिक इंद्रियों से रहित है। वह अनासक्त होते हुए सभी का पालनकर्ता है। यद्यपि वह सभी भौतिक गुणों से रहित है, तथापि वह सभी गुणों का स्वामी है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १३-१६ ॥

वह सभी चल व अचल प्राणियों में स्थित है। वह निकट है और उसी समय दूर भी है। अत: वह अतिसूक्ष्म है और उसे पूरी तरह समझना कठिन है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१३-१७॥

यद्यपि ऐसा लगता है कि वह सभी जीवित प्राणियों में विभाजित है, वास्तव में वह अविभाजित है। वही सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारक कहलाता है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१३-१८॥

उसे अंधकार से परे, सभी प्रकाशमानों में सबसे तेजोमय कहा जाता है। वह ज्ञान, ज्ञेय एवं सभी ज्ञान का उद्देश्य है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१३-१९॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप में समझाया गया है। इसे समझ कर ,मेरे भक्त मेरे प्रति प्रेम प्राप्त करते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, परम सत्य (श्री भगवान्) की अनुभूति तीन चरणों में होती है - ब्रह्मन, परमात्मा और भगवान्। प्रस्तुत श्लोकों में श्रीकृष्ण ने जिसे "वह" कहकर संबोधित किया है, उसे अपने अधीनस्थ कहकर भी परम ब्रह्मन बताया है, वे परमात्मा को इंगित कर रहे हैं। उनके (परमात्मा के) हाथ, पैर, आंखें और कान हर जगह हैं और वे सभी जीवित प्राणियों के हृदयों में स्थित हैं। वे पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त हैं, वे स्वयं को सभी वस्तुओं के भीतर होने के लिए अपने को विभाजित करते हैं, फिर भी वे स्वयं विभाजित या क्षीण नहीं होते - वे अपना पूर्ण व्यक्तित्व बनाए रखते हैं। यह ईशोपनिषद् के आह्वान मन्त्र में बताया गया है:

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

परम पुरुष परिपूर्ण एवं संपूर्ण हैं, और चूंकि वे पूरी तरह से परिपूर्ण हैं, इसलिए उनसे उद्गम होने वाले सभी वस्तु, जैसे कि यह भौतिक जगत, वे भी परिपूर्ण एवं संपूर्ण हैं। संपूर्ण परम पुरुष से भले ही कई संपूर्ण वस्तुएं उत्पन्न होते हो, इसके बावजूद भी वे संपूर्ण बने रहते हैं।

ऐसा लगता है कि आस्तिक और नास्तिक के बीच का संवाद निरंतर रूप से एक विकट स्थिति में फसा हुआ है। लेकिन जैसा कि पिछले अनुवृत्ति में बताया गया है, भगवद्गीता के पाठक ना तो तथाकथित आस्तिकों को ना नास्तिकों को पूर्ण ज्ञानी मानते हैं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि तथाकथित आस्तिक के विचार की तुलना में नास्तिक की राय ही अधिक सही है। संवाद में आस्तिक अपने भगवान् (God) को स्थापित करता है, और जो नास्तिक है, वह आस्तिक के तथाकथित बयानों की विवेचना कर यह पता लगाता है की प्रस्तावित भगवान् क्रोधी, प्रतिशोधी, ईर्ष्यालु, प्रतिहिंसक, दर्द देकर खुश होने वाला भगवान् है। ऐसे दृष्टांत में हम नास्तिक से सहमत होंगे कि ऐसा कोई ईश्वर नहीं है।

परन्तु, फिर नास्तिक इस निष्कर्ष पर आता है कि ईश्वर के अभाव में यह जगत और उसमें निहित सभी तरह के जीवन शून्यता या अवस्तुता से उत्पन्न हुए हैं - हालांकि उसे इस घटना का ना कोई अनुभव है न उसके पास कोई प्रमाण कि कोई वस्तु अवस्तुता से उद्भव हो सकता है। अत: उसका प्रस्ताव आत्मघाती है।

ईश्वर और उनका गैर-अस्तित्व दोनों ही तथाकथित आस्तिक और नास्तिक की मानसिक भ्रांति है। जबकि, भगवद्गीता के अध्येता इस बात को जानते हैं कि भगवद्गीता का विषय कोई भगवान् पर शोध-निबंध नहीं। भगवद्गीता एक प्रवचन है जिसका उद्देश्य परम सत्य का ज्ञानोदय (प्रबोधन) है। परम सत्य में ज्ञात, जानने योग्य ओर अज्ञात - ब्रह्माण्ड के पहले, ब्रह्माण्ड के भीतर, ब्रह्माण्ड के पश्चात एवं ब्रह्माण्ड से परे की सभी वस्तुएं उपस्थित हैं।

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१३-२०॥

यह जानो कि भौतिक प्रकृति और जीवित प्राणी दोनों का कोई आदि नहीं होता। यह समझने का प्रयास करो कि सभी विकार और प्राकृतिक गुण इस भौतिक प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ १३-२१ ॥

यह कहा जाता है कि भौतिक प्रकृति सभी कारणों व परिणामों का स्रोत है। जीवित प्राणी स्वयं ही अपने सुख एवं दुःख के कारण हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ १३-२२ ॥

भौतिक प्रकृति में स्थित, जीवित प्राणी भौतिक प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करते हैं। इन गुणों के साथ जुड़ाव के कारण, जीवित प्राणी जीवन की उच्च और निम्न प्रजातियों में बार-बार जन्म लेते हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ १३-२३ ॥

परम पुरष जिन्हें परम चेतना (परमात्मा) के रूप में जाना जाता है, इस शरीर के भीतर निवास करते हैं। वे सब के साक्षी, परम अधिकारी, पोषणकर्ता, पालनकर्ता एवं सर्वोच्च नियंत्रक हैं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ १३-२४ ॥

इस प्रकार, जो परम पुरुष, भौतिक प्रकृति और भौतिक प्रकृति के गुणों को पूर्ण रूप से समझते हैं, वे किसी भी परिस्थिति में पुनः जन्म नहीं लेते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ १३-२५ ॥

कुछ योगी ध्यान के माध्यम से हृदय-स्थित परम पुरुष का आभास करते हैं। कुछ अन्य योगी सांख्य योग की विश्लेषण प्रक्रिया के माध्यम से, जबकि कुछ अन्य उन्हें कर्म-योग के द्वारा अनुभव करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ १३-२६ ॥

कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इन विधियों को नहीं जानते, किंतु केवल दूसरों से सुनकर ही वे उनकी पूजा में संलग्न हो जाते हैं। क्योंकि उन्होंने जो कुछ सुना है, उस पर उनकी श्रद्धा होती है इसलिए वे भी मृत्यु से परे हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

यह वर्णित है कि भौतिक प्रकृति और जीवित प्राणी (जीवात्मा या पुरुष) दोनों ही अनादि हैं। इसका अर्थ यह है कि भौतिक प्रकृति और जीवात्मा श्री कृष्ण की नित्य शक्तियों के रूप में सृष्टि की रचना के पहले से ही उपस्थित हैं। जीवात्मा का स्त्रोत या उत्पत्ति समय के शुरू होने से पहले तटस्थ स्तर – भौतिक और आध्यात्मिक स्तर के किनारे में है। इस संबंध में, जीवों की उत्पत्ति और भौतिक प्रकृति दोनों ही अनादि काल से है और इनका कोई पहला कारण नहीं है। वे बिना किसी प्रथम कारण के हैं क्योंकि वे शक्तियां हैं, या यह कहे की वे भगवान् की शक्तियां हैं जो स्वयं ही अनादि या बिना स्त्रोत के हैं। दूसरे शब्दों में, सभी कारणों के कारण श्रीकृष्ण हैं। इसलिए उन्हें सर्व-कारण-कारणं कहा जाता है।

हालांकि भौतिक प्रकृति और जीवात्मा दोनों ही अनादी एवं नित्य हैं, फिर भी उनके गुण और विशेषताएं विभिन्न हैं। वे एक जैसे नहीं हैं। भौतिक प्रकृति को शरीर, इंद्रियों और अन्य तत्वों के साथ-साथ सुख, दुःख, विलाप और भ्रम जैसे गुणों के परिवर्तनों के रूप में वर्णित किया जाता है। जीवात्मा परम पुरुष के अवयवभूत अंश हैं। वे सत्-चित्-आनन्द हैं - यानि उनका स्वभाव नित्यत्व, ज्ञान एवं आनंद से परिपूर्ण है। जब जीवित प्राणी स्वयं को भौतिक शरीर के रूप में समझते हैं, तो वे सुख एवं दुःख के कष्ट को भुगतते हुए जन्म एवं मृत्यु के चक्र में एक शरीर से दूसरे शरीर में निरंतर देहांतरण करते रहते हैं।

जीवन के सबसे मुख्य प्रश्नों में से एक प्रश्न, "हम कहाँ से आये हैं?" का निश्चित रूप से श्रीमद्भगवद्गीता में उत्तर दिया गया है। फिर भी श्लोक २० में अनादी शब्द के प्रयोग ने कुछ विचारकों को यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रोत्साहित किया है कि जीवात्मा सदैव भौतिक दुनिया में ही रहे हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जीवित प्राणी शाश्वत हैं, वे भौतिक ब्रह्मांड में ही शुरू होते हैं और सदैव भौतिक ब्रह्मांड में ही रहे हैं। किंतु इस निष्कर्ष का भगवद्गीता के पूर्ववर्ती आचार्यों, जैसे कि श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती, श्री बलदेव विद्याभूषण और अन्यों ने समर्थन नहीं किया है। उनके लिए, अनादि का अर्थ है प्रारंभ-विहीन, या समय के शुरू होने से पहले। जीवात्माओं की उत्पत्ति और अनादि में उनकी शुरुआत के बारे में, वैष्णव आचार्य स्वामी बी. आर. श्रीधर महाराज कहते हैं -

चिरकाल से, मनुष्य ने जीव की उत्पत्ति के बारे में पूछताछ की है। मैं कौन हूँ? मैं कहां से आया हूँ? जीव इस संसार में पहली बार कैसे प्रकट हुआ? आध्यात्मिक अस्तित्व के किस चरण में उसका इस भौतिक संसार में पतन हुआ?

इस संसार में आने वाले जीवों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग वे हैं जो श्री कृष्ण की अनन्त नित्य-लीला की आवश्यकता के कारण आध्यात्मिक वैकुण्ठ लोकों से आते हैं। दुसरे जो व्यवस्थानुरूप आवश्यकता से आते हैं। ब्रह्म-ज्योति, जो की अविभेदित तटस्थ स्तर है, वह अनंत जीवात्माओं, आध्यात्मिक आणविक कणों का स्रोत है।

परम पुरुष के पारलौकिक शरीर की किरणों को ब्रह्म-ज्योति के रूप में जाना जाता है, और ब्रह्म-ज्योति का एक किरण एक जीवात्मा है। जीवात्मा उस प्रभा का एक कण है, और ब्रह्म-ज्योति अनंत जीवात्मा-कणों का सामूहिक परिणाम है। आमतौर पर, जीवात्मा ब्रह्म-ज्योति से निर्गत होती है जो सजीव है और बढ़ रहा है। ब्रह्म-ज्योति के भीतर, किसी प्रकार से उसके संतुलन में विघ्न उत्पन्न होता है और संचलन शुरु होता है। अविभेद् से भेद् शुरू होता है। संयुक्त चेतना से व्यक्तिगत चेतना की इकाइयाँ (आत्माएं) उभड़ती हैं। और क्योंकि जीवात्मा सचेत है वह स्वतंत्र इच्छा से संपन्न है।

सीमांत स्थिति (तटस्था-शक्ति) से वे या तो शोषण (भौतिक संसार) या समर्पण (वैकुंठ) का पक्ष चुनते हैं। कृष्ण भुलि से जीव अनादि बहिर्मुखा - अनादि का अर्थ है जिसकी कोई शुरुआत नहीं। जब हम शोषण की भूमि में प्रवेश करते हैं, हम समय, स्थान और विचार के उपादान के भीतर आते हैं। और जब हम शोषण करने के लिए आते हैं, ऋण की नकारात्मक भूमि में कर्म और कर्म की प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है।

जब अपनी स्वतंत्र इच्छा के प्रयोग से और अपनी जिज्ञासा के कारण जीवात्मा इस भूमि में प्रवेश करता है - तब से वह इस सीमित संसार का कारक बन जाता है। लेकिन उसकी भागीदारी इस सीमित संसार के प्रारंभ से परे है। इसीलिए उसे अनादी कहा जाता है। अनादी का अर्थ है कि जो इस सीमित संसार के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता।

एक बार भौतिक प्रकृति के संपर्क में आने के बाद, जीव कर्म के अधीन हो जाते हैं - कर्म और उसकी प्रतिक्रिया का नियम। इस नियम के तहत जीवात्मा जीवन

की विभिन्न प्रजातियों में सुख एवं दुःख का अनुभव करते हैं। अपनी भौतिक अस्थाई निवास के दौरान, परमात्मा जीवात्मा के साथ होते हैं और देखते हैं की वह कब अपना शीर्ष परम सत्य (भगवान्) की ओर घुमाएगा। परमात्मा भटकती जीवात्मा की दिशा निर्देशित करते हैं, और जब कोई सत्य को जानने की इच्छा करता है, तब परमात्मा उस जीव के सामने आध्यात्मिक गुरु के रूप में प्रकट होते हैं, जो उसे श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान यथा रूप देते है। और इसे प्रकार जीवात्मा जन्म और मृत्यु के इस भव सागर को पार कर लेता है।

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।
गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति लता बीग ॥

> अपने कर्म के अनुसार, जीवात्मा पूरे ब्रह्माण्ड में भटक रहे हैं। कुछ जीवात्मा जो सबसे भाग्यशाली होते हैं, उन्हें गुरु और कृष्ण की कृपा प्राप्त होती है, और ऐसी कृपा से उन्हें भक्ति के लता का बीज प्राप्त होता है। (चैतन्य-चरितामृत, मध्य-लीला १९.१५१)

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥१३-२७॥

हे भरत वंश के सर्वश्रेष्ठ, यह जानो की जो कुछ चर और अचर विद्यमान है वह क्षेत्र और क्षेत्र के ज्ञाता के संयोजन से ही प्रकट होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३-२८॥

कोई वास्तव में तब देखता है, जब वह परमेश्वर को सभी में स्तिथ देखता है और इस बात की अनुभूति करता है की ना तो परम-चेतना (परमात्मा) न व्यक्तिगत चेतना (आत्मा) नश्वर है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३-२९॥

समान रूप से सभी स्थानों पर परमेश्वर को देखने से व्यक्ति कभी भ्रष्ट नहीं होता और तब वह भगवान् के परम धाम को प्राप्त करता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥१३-३०॥

जो यह अनुभूति प्राप्त करता है कि सभी गतिविधियाँ भौतिक प्रकृति द्वारा ही कार्यान्वित होते हैं, वही समझता है कि वह कर्ता नहीं है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१३-३१॥

जब व्यक्ति वस्तुत: देखने लगता है, तब वह अपने स्वयं का अपने शरीर के साथ पहचान करना छोड़ देता है। यह समझते हुए कि सभी जीवित प्राणी समान हैं, वह ब्रम्ह ज्ञान को प्राप्त करता है और सभी ओर उसका विस्तार देखता है।

~ अनुवृत्ति ~

यह जगत चर और अचर वस्तुओं से बना हुआ है। चर प्रजाति में मनुष्य, पशु, मछली आदि शामिल होते हैं। अचर वस्तुओं में पेड़, पहाड़, खनिज आदि शामिल होते हैं। श्री कृष्ण कहते हैं कि ये सभी चर और अचर वस्तुएं भौतिक प्रकृति और जीवित प्राणियों का एक संयोजन है। जिसकी दृष्टि गहरी होती है वह देखता है कि परम चेतना (परमात्मा) सभी चीजों के नियंत्रक हैं और सभी प्राणियों के हृदय में स्थितं हैं, प्रत्येक कण में एवं प्रत्येक कणों के बीच स्तिथ हैं। ऐसा द्रष्टा एक वास्तविक ज्ञाता होता है और उसे यह ज्ञान रहता है कि आत्मा और परमात्मा दोनों ही शाश्वत एवं अविनाशी हैं।

सत्य-द्रष्टा, भौतिक प्रकृति के प्रभावों से कभी अपमानित नहीं होता। वह धीरे-धीरे परिपूर्णता के तरफ अग्रसर होता है और श्री कृष्ण के परम धाम को प्राप्त करता है। जो लोग भौतिक प्रकृति से प्रभावित हैं और जिन्हें परमात्मा का कोई ज्ञान नहीं है, वे अनुचित रूप से यह समझते हैं कि वे स्वयं कार्यों के कर्ता हैं, या यह कि वे भौतिक प्रकृति के अधिपति हैं। हालाँकि यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है क्योंकि वे स्वयं असहाय रूप से मृत्यु के हाथों पीड़ित हैं।

लेकिन जिन लोगों के पास देखने की क्षमता है, उन्हें जीवन के अनके रूपों से आत्मा की उपस्थिति का संकेत मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा कहना गलत है कि केवल मनुष्य ही सचेत है या केवल मानव चेतना ही शाश्वत है, किंतु वे सभी चीजें जो जन्म, वृद्धि, पालन, प्रजनन, क्षय और मृत्यु की स्थिति

प्रकट करते हैं, उच्च जन्म (मनुष्य जन्म) में हो या निम्न जन्म (पशु जन्म) में हो, सभी शाश्वत जीव हैं जो भौतिक दुनिया में देहांतरण कर रहें हैं। इस प्रकार, जो स्नेहशील, दयालु और करुणामय है उन्हें जीवन के सभी रूपों के साथ ऐसा होना चाहिए। ऐसा नहीं कि मनुष्यों को छोड़ दिया जाए और पशुओं और अन्य प्रजातियों को हमारे आनंद के लिए मार डाला या उनका शोषण किया जाए। यह विचार भगवद्गीता के दर्शन अनुरूप नहीं है, जो सभी जीवित प्राणियों को परम पुरुष, श्रीकृष्ण, के अवयवभूत अंश के रूप में देखता है। इस प्रकार, सभी जीवित प्राणियों को जीवन का अधिकार है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥१३-३२॥

हे कुंती पुत्र, परम चेतना (परमात्मा) का कोई आदि नहीं हैं, वे भौतिक प्रकृति के गुणों से परे हैं, पारलौकिक हैं, एवं असीम हैं। यद्यपि वे प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में स्थित हैं किन्तु वे न तो कोई कार्य करते हैं, न ही वे किसी कार्य से प्रभावित होते हैं।

यथा सर्वगतं सौम्याद‍ाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥१३-३३॥

जिस प्रकार सर्वव्यापी अंतरिक्ष का सूक्ष्म तत्व किसी भी चीज के साथ घुलता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की व्यक्तिगत इकाई भी भौतिक शरीर के साथ नहीं घुलती, हालांकि वह शरीर के भीतर स्थित होती है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥१३-३४॥

हे भारत, जैसे एक सूर्य पूरे ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्री (क्षेत्र का स्वामी) पूरे क्षेत्र को रोशन करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥१३-३५॥

जो शरीर और स्वयं के बीच के अंतर को पहचानता व परखता है, और जो भौतिक बंधन से मुक्ति की प्रक्रिया को समझता है, वह भी सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करता है।

~ अनुवृत्ति ~

परमात्मा भौतिक प्रकृति में प्रवेश करते हैं और प्रकृति के भीतर वे ही सबकुछ संभव बनाते हैं, लेकिन वह स्वयं कभी भी उससे (भौतिक प्रकृति से) दूषित नहीं होते। वह कभी भ्रम में नहीं रहते, कभी समय के प्रभाव में नहीं आते, कभी मृत्यु के अधीन या कभी कर्म की प्रतिक्रियाओं और भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन नहीं होते। परमात्मा सदैव भौतिक प्रकृति के स्वामी हैं और भौतिक प्रकृति सदैव उनके अधीन है। हालांकि, जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर स्थित होता हैं, फिर भी वह शरीर के साथ मिश्रित या उससे एक नहीं होता। जीवात्माएं सदैव भौतिक शरीर से अलग होते हैं, भले हि वे शरीर से प्रतिबन्धित (अनुकूलित) हो। जो इस बात को श्री कृष्ण के संबंध में समझता है, वह जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए प्रकृति-पुरुष विवेक योग नामक तेरहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १४

गुणत्रय विभाग योग

श्रीभगवानुवाच।
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४-१॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - अब मैं तुमसे उस ज्ञान का वर्णन करता हूँ जो सभी प्रकार के ज्ञानों में सर्वोपरि है। इसे जानकर, सभी ऋषि गण सिद्धि प्राप्त कर सके और अपने परम गंतव्य तक पहुंच सके।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥१४-२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर व्यक्ति मेरी दिव्य प्रकृति प्राप्त कर लेता है। वह ना तो सृष्टि के समय जन्म लेता है न वह प्रलय के समय व्यथित होता है।

~ अनुवृत्ति ~

पिछले अध्यायों में भौतिक प्रकृति के गुणों - सत्त्व-गुण, रजो-गुण और तमो-गुण का उल्लेख किया गया है और इस अध्याय में उनका विस्तार से वर्णन किया जाएगा। यह भी वर्णित किया जाएगा कि व्यक्ति कैसे भौतिक गुणों से परे होकर जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो सकता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१४-३॥

हे भारत, भौतिक प्रकृति का विशाल विस्तार मेरा गर्भ है जिसे मैं गर्भाधान करता हूँ और जहां से सभी जीवित प्राणी प्रकट होते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥१४-४॥

हे कुंती पुत्र, इस दुनिया में जन्म लेने वाले सभी प्रकार के जीवन अंततः भौतिक प्रकृति के महान गर्भ से पैदा होते हैं, और मैं ही बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४-५॥

सत्त्व, रजो और तमो गुण भौतिक प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। हे महाबाहु, प्रकृति के ये गुण अव्यय जीव को भौतिक शरीर से बांधते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥१४-६॥

हे निष्पाप अर्जुन! इन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होता है। यह ज्ञान प्रदान कर व्यथा से मुक्त करता है। यह मनुष्य को आनंद और ज्ञान के लिए अनुकूलित करता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥१४-७॥

हे कुंती पुत्र, यह जानो कि रजोगुण इच्छा, ललक और आसक्तियों को उत्पन्न करता है। यह देहबद्ध जीवों को उनके कर्मों से बांधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबधाति भारत ॥१४-८॥

हे भारत, यह जानो कि तमोगुण सभी जीवों को भ्रमित करता है। यह उन्हें भ्रम, आलस्य और अत्यधिक नींद के माध्यम से बांधता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥१४-९॥

हे भारत, सत्वगुण व्यक्ति को सुख के लिए अनुकूलित करता है, रजोगुण आसक्तियों को उत्पन्न करता है जिससे व्यक्ति कर्मों के बंधन में बंध जाता है, और तमोगुण ज्ञान को आवृत करके भ्रम पैदा करता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१४-१०॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को परास्त कर देता है; रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण को परास्त कर देता है; तो कभी तमोगुण, सत्त्वगुण और रजोगुण को परास्त कर देता है। इस प्रकार ये गुण आपस में वर्चस्व के लिए सदैव लड़ते रहते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

भौतिक प्रकृति की तुलना एक गर्भ से की जाती है और श्री कृष्ण कहते हैं कि वे इस गर्भ के बीज देने वाले पिता (अहं बीज-प्रद: पिता) हैं। भौतिक प्रकृति और जीवों का संयोजन इस प्रकार है कि वे अनेक जीवराशियों को उत्पन्न करते हैं, जो भौतिक प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रजस, तमस) से बंधे होते हैं और उनके प्रभाव के अंतर्गत कार्य करने के लिए मजबूर होते हैं। स

त्त्वगुण की विशेषता यह है कि यह अशुद्धियों से रहित है, जो व्यक्ति को ज्ञान प्रदान कर व्यथा से मुक्त करता है, आनंद की अनुभूति देता है, और सिद्धि की ओर ले जाता है। रजोगुण अत्याधिक इच्छा, ललक और आसक्तियों को उत्पन्न करता है और जीवों को कर्मों के बंधन से बाध्य करता है। तमोगुण वह है जो सभी देहबद्ध जीवों को व्यग्र करता है और भ्रम, आलस्य एवं अत्यधिक नींद के माध्यम से विवश करता है।

इस तरह, भौतिक प्रकृति के तीन गुण व्यक्ति को सुख के भ्रम, कर्मों के बंधन, तथा अज्ञान की व्यग्रता से बांधे रखते हैं। प्रकृति के तीनो गुणों के संयोजन अंतहीन हैं एवं प्रत्येक गुण एक दुसरे से प्रधानता के लिए लड़ते रहते हैं। इसके कारण, देहबद्ध जीव सदैव भ्रम की स्थिति में रहते हैं और परिणामस्वरूप जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे और बीमारी के दु:ख से सदैव व्यथित रहते हैं।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥१४-११॥

जब ज्ञान का प्रकाश शरीर की सभी इंद्रियों को प्रकाशित करता है, तो यह समझा जाना चाहिए कि सत्त्वगुण सबसे अधिक प्रबल है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१४-१२॥

हे भरत वंश के सर्वश्रेष्ठ, जब रजोगुण सबसे अधिक प्रबल होता है तब मनुष्य लालच, स्वार्थी गतिविधियों, महत्वाकांक्षा, बेचैनी और तीव्र इच्छा के प्रभाव में रहता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १४-१३ ॥

हे कुरुनन्दन, जब तमोगुण प्रबल होता है, तब अज्ञान, आलस्य, मोह और मतिभ्रम प्रकट होते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्‌ ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४-१४ ॥

जब कोई देहबद्ध जीव सत्वगुण के प्रभाव में देह त्याग करता है, तो वह उच्च लोकों को प्राप्त करता है जहां महान मनीषियां निवास करते हैं।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १४-१५ ॥

जब रजोगुण के प्रभाव में किसी की मृत्यु होती है, तब वह उन लोगों के बीच पुनर्जन्म लेता है जिन्हें सांसारिक कर्मों से लगाव होता है। यदि कोई तमोगुण के प्रभाव में मृत्यु प्राप्त करता है तब वह मूों के बीच पुनर्जन्म लेता है।

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त पाँच श्लोकों में भौतिक प्रकृति के तीन गुणों (सत्व, रजो, तमो) के लक्षणों का और भी वर्णन किया गया है, तथा साथ ही मृत्यु के समय जीवित प्राणियों पर उनके प्रभाव को बताया गया है। जब किसी की मृत्यु सत्त्वगुण के प्रभाव में होती है तब वह ज्ञान से प्रकाशित होकर उन उच्च लोकों को प्राप्त करता है जहां महान मनीषियां निवास करते हैं। जब किसी की मृत्यु रजोगुण के प्रभाव में होती है, जिसके लक्षण लालच, स्वार्थी गतिविधियां, महत्वाकांक्षा, बेचैनी और तीव्र इच्छाएं होती हैं, तब वह उन लोगों के बीच पुनर्जन्म लेता है जो सांसारिक गतिविधियों से लगाव रखते हैं। और जब मनुष्य में सबसे दुर्भाग्यशालियों की मृत्यु तमोगुण में होती है, जिसके लक्षण हैं, अज्ञानता, आलस्य, मोह और भ्रम, तब वे असभ्य लोगों के गर्भ में या इससे भी बदतर, कुत्ते, बिल्लियां या लढू जानवर बनकर जन्म लेते है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्‌ ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्‌ ॥ १४-१६ ॥

यह कहा गया है कि सात्त्विक कर्मों का फल निर्मलता है, राजसिक कर्मों का परिणाम दुःख है, और तामसिक कर्मों का परिणाम अज्ञान है।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१४-१७॥

सत्त्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, रजोगुण से लोभ, तथा तमोगुण से मोह, भ्रम एवं अज्ञानता की उत्पत्ति होती है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१४-१८॥

सात्त्विक व्यक्ति उच्च लोकों को प्राप्त करते हैं, जो राजसिक हैं वे मध्य (पृथ्वी लोक) में रह जाते हैं, और जो तामसिक हैं उनकी जीवन के निम्न स्तर में अधोगति होती हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१४-१९॥

जब कोई यह समझ लेता है कि प्रकृति के गुणों को छोड़कर कोई अन्य सक्रिय कर्ता नहीं है, और इन गुणों के परे स्थित परम पुरुष को वह जानता है, तब वह मेरा स्वभाव प्राप्त कर लेता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१४-२०॥

जब व्यक्ति शरीर में प्रकट होने वाले इन तीनो गुणों से पार हो जाता है, तब वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे और अन्य दुखों से मुक्त हो जाता है। और फिर वह अमरत्व का रस पान करता है।

~ अनुवृत्ति ~

प्रकृति के भौतिक गुणों के भ्रम और उसके प्रभाव से बचना या उस पर काबू पाना अत्यंत ही मुश्किल है, लेकिन यह तब संभव होता है जब कोई भगवद्गीता के ज्ञान की साधना करता है और स्वयं को भक्ति-योग की प्रक्रिया में निष्ठापूर्वक निमग्न करता है। भगवद्गीता के अध्ययन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान, व्यक्ति को

प्रकृति के भौतिक गुणों को पार करने में सक्षम बनाता है, क्योंकि ऐसा ज्ञान अपने आप में ही पारलौकिक और सभी त्रुटियों (भ्रम), मोह (प्रमाद), छल (विप्रलिप्सा) तथा मिथ्या धारणा (करणपाटव) से मुक्त होता है। दूसरे शब्दों में, भगवद्गीता में निहित ज्ञान निष्कलंक एवं परिपूर्ण है। भगवान् श्री कृष्ण यह वचन देते हैं की जो भी प्रकृति के भौतिक गुणों को पार करे, वह जन्म, मृत्यु, बुढापे और व्याधियों से मुक्त हो जायेगा और वह अमरत्व का रस पान करेगा। ईशोपनिषद् में भी इसकी इस तरह से पुष्टि की गई है:

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युम् तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

> जो अज्ञान (अविद्या) का पारगमन करता है और पारलौकिक ज्ञान प्राप्त करता है वह निश्चित रूप से जन्म और मृत्यु के भवर से ऊपर उठ कर अमरत्व का रस-पान करता है। (ईशोपनिषद् ११)

ज्ञान की उन्नति का समकालीन विश्व दृष्टिकोण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रयोग, परिकल्पना और अटकलों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्ञान प्राप्त करने की इस प्रक्रिया को आरोह-पन्थ कहा जाता है। हालांकि, ज्ञान की आरोही प्रक्रिया पूरी तरह से मन, बुद्धि और इंद्रियों पर निर्भर करती है, और इस प्रकार यह चार भौतिक दोषों - त्रुटी, भ्रम, छल और मिथ्या धारणा के अधीन है। तदनुसार, कोई भी वैज्ञानिक ज्ञान परिपूर्ण नहीं है, और कभी हो भी नहीं सकता। वास्तव में, कई वैज्ञानिकों के स्वीकरण से, वे कभी भी ज्ञान के अंत को प्राप्त नहीं कर सकते। जितना वे सीखते हैं, उतना ही सीखने के लिए होता है, या जितना वे सीखते हैं, उतना ही अधिक उन्हें पता चलता है कि उनके पूर्ववर्ती वैज्ञानिक गलत थे। कुछ भी हो, वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं है - और जब मृत्यु आती है तब वैज्ञानिकों की एक और पीढ़ी धूल में मिल जाती है।

श्री कृष्ण से जो ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से अवतरित हो रहा है अवरोह-पन्थ कहा जाता है और यह भौतिक दोषों से मुक्त होता है। भगवद्गीता का अर्थ है श्री कृष्ण के वचन - जिसका श्रवण मनुष्य को मृत्यु से पहले ही जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के योग्य बनाता है।

अर्जुन उवाच ।
कैर्लिङ्गैस्त्रीनगुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीनगुणानतिवर्तते ॥१४-२१॥

अर्जुन ने पूछा - हे कृष्ण, जो इन त्रिगुणों से परे है उसे किन लक्षणों से पहचाना जा सकता है? उसका आचरण कैसा होता है और प्रकृति के इन त्रिगुणों को वह कैसे पार करता है?

श्रीभगवानुवाच ।
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
नद्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१४-२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥१४-२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥१४-२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥१४-२५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया - हे पांडू-पुत्र जो प्रकाश, आसक्ति या भ्रम की उपस्थिति से न घृणा करता है और न ही उनके लुप्त हो जाने पर उनकी इच्छा रखता है, जो उदासीन रहता है और प्रकृति के त्रिगुणों से प्रभावित या विचलित नहीं होता है, जो सुख और दुःख दोनों में समान रहता है, स्वयं में ही संतुष्ट रहता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने के बीच कोई स्वाभाविक अंतर नहीं देखता, जो दोनों अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों अबाधित रहता है, जो बुद्धिमान है, जिसके लिए अपमान और प्रशंसा समान है, जो यश और अपयश को एक समान रूप से देखता हैं, जो मित्र और क्षत्रु दोनों के प्रति निष्पक्ष है, और जो सांसारिक या भौतिक कार्यों का त्याग करता है - ऐसे व्यक्ति को भौतिक प्रकृति के गुणों से परे मानना चाहिए।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४-२६॥

जो भक्ति-योग में बिना विचलित हुए मेरी सेवा में लगे रहते हैं, वे भौतिक प्रकृति के इन त्रिगुणों को पार कर मोक्ष (ब्रह्म-तत्त्व) के योग्य हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१४-२७॥

मैं ही अमर, अविनाशी ब्रह्म-ज्योति का आधार हूँ, जो सनातन धर्म और परम आनन्द का आधार है।

~ अनुवृत्ति ~

जो व्यक्ति प्रकृति के गुणों से मुक्त है उसके लक्षणों का यहाँ वर्णन किया गया है। ऐसा व्यक्ति भौतिक संसार के द्वंद्वों में समान रहता है। ऐसा व्यक्ति सुख और दुःख से प्रभावित नहीं होता क्योंकि वह दोनों के अस्थायी स्वभाव को जानता है। मुक्त जीव अध्यात्म की साधना में संतुष्ट रहता है और धन से प्रेरित या गरीबी से परेशान या विचलित नहीं होता। वह सोना, धूल या एक साधारण पत्थर को एक समान देखता है (सम लोष्ठाश्म काञ्चन:)। वह बुद्धिमान है, उसके लिए अपमान और प्रशंसा समान है, उसका कोई क्षत्रु नहीं है क्योंकि वह मित्र और क्षत्रु दोनों के लिए निष्पक्ष रहता है। ये उन लोगों की विशेषताएं हैं, जो भौतिक प्रकृति के त्रिगुणों से ऊपर स्थित होते हैं। श्रीमद्भागवतम् में इसकी पुष्टि इस प्रकार है -

सात्त्विक: कारकोऽसंगी रागान्धोराजस: स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्ठो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥

> जो आसक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है, वह सत्त्वगुण में होता है। जो स्वार्थ के लिए कर्म करता है, वह रजोगुण में होता है। जो उचित और अनुचित में भेदभाव किए बिना कर्म करता है वह तमोगुण में होता है। किंतु जो श्रीकृष्ण का आश्रय लेता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों से परे होता है। (श्रीमद्भागवतम् ११.२५.२६)

मुक्त पुरुष सदैव बिना विचलित हुए भक्ति-योग में स्थित होते हैं क्योंकि वे कृष्ण को अमर, अविनाशी ब्रह्मन, भगवद्गीता के माध्यम से अनन्त ज्ञान के दाता, एवं परमानंद के मूलस्रोत के रूप में जानते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्ददशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए गुणत्रय विभाग योग नामक चौदहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १५

पुरुषोत्तम योग

श्रीभगवानुवाच ।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १५-१ ॥

भागवान श्री कृष्ण ने कहा - ऐसा कहा गया है कि एक अविनाशी बरगद का वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, शाखाएँ नीचे की ओर हैं और जिसके पत्ते वैदिक मंत्र हैं। जो इस वृक्ष को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ १५-२ ॥

इस वृक्ष की कुछ शाखाएँ ऊपर की ओर फैली हुई हैं और अन्य नीचे की ओर बढ़ती हैं, जो भौतिक प्रकृति के गुणों से पोषित होती हैं। पेड़ की टहनियाँ इन्द्रिय-वस्तु हैं, और जड़ें जो नीचे की ओर विस्तृत हैं वे मानव तल तक पहुँचती हैं, और ये मानव समाज के बंधनकारक कर्मों का कारण है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरुढमूलं असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ १५-३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ १५-४ ॥

इस वृक्ष के रूप को इस संसार में प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता। सचमुच, कोई भी पूरी तरह से इस वृक्ष को समझ नहीं सकता कि यह वृक्ष कहाँ से शुरू होता है, कहाँ समाप्त होता है, या इसकी नींव कहाँ है। व्यक्ति को इस मज़बूत जड़ वाले बरगद के वृक्ष को विरक्ति के हथियार से काट देना चाहिए और उस स्थान की खोज करनी चाहिए, जहां पहुंचकर कोई वापस नहीं आता। मनुष्य को परम पुरुष का आश्रय लेना चाहिए, जिनके द्वारा सभी चीजें अनादि काल से उत्पन्न हुई हैं।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ, भौतिक संसार की तुलना एक विशाल बरगद के वृक्ष से की गई है, जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे हैं और जिसकी पत्तियाँ वैदिक मंत्र हैं। यह आध्यात्मिक वास्तविकता के प्रतिबिंब के रूप में इस भौतिक दुनिया की एक उपमा है, जिसकी उत्पत्ति, नींव और अंत, पूरी तरह से, माया-ग्रस्त जीवों के

लिए अबोधगम्य है। मनुष्य को विरक्ति के हथियार इस माया को काटना चाहिए तथा कृष्ण के परम धाम की खोज में संलग्न होना चाहिए। तैत्तिरीय आरण्यक इस प्रकार कहता है -

ऊर्ध्वमूलमवाक्छाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति ।
न स जातु जनः श्रद्धध्यात् मृत्युर्मा मारयादितिः ॥

ऊपर की ओर जड़ों एवं नीचे की ओर शाखाओं वाले इस बरगद के वृक्ष को जो जानता है वह यह श्रद्धा प्राप्त कर लेता है कि मृत्यु उसे मार नहीं सकता। (तैत्तिरीय आरण्यक १.११.५.५२)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥१५-५॥

अभिमान, भ्रम और बुरी संगत से मुक्त, आध्यात्मिक खोज में समर्पित, काम प्रवृत्ति का त्याग, सुख और दुःख की द्वंद से मुक्त - ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति शाश्वत पद प्राप्त करते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥१५-६॥

मेरा तेजोमय परम धाम सूर्य, चन्द्र, या अग्नि द्वारा प्रकाशित नहीं है। एक बार उस धाम को प्राप्त कर लेने के पश्चात व्यक्ति पुनः नहीं लौटता।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५-७॥

इस संसार के सभी जीव मेरे ही नित्य अंश हैं। ये जीव पाँच इन्द्रियों एवं छठे इन्द्रिय के रूप में अपने मन से कड़ी संघर्ष करते हैं।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥१५-८॥

जब भी कोई जीवात्मा - शरीर का स्वामी, शरीर का ग्रहण या त्याग करता है, तब उसकी इन्द्रियां एवं उसका मन अगले जन्म में उसके साथ ही उसी तरह चलते हैं, जिस तरह पवन सुगंध को अपने स्रोत से उड़ा ले जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

भक्ति-योग या कृष्ण-चेतना में पूर्णता, झूठी प्रतिष्ठा एवं माया से मुक्त होने के प्रयास के बिना प्राप्त नहीं होती है। इसे प्राप्त करने के लिए परम-सत्य की खोज में व्यक्ति को समान विचारधारा वाले व्यक्तियों की संगत रखनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, बुरी संगत का त्याग करना चाहिए।

असत संग त्याग - ऐ वैष्णव आचार ।
स्त्री सङ्गी एक असाधु कृष्णाभक्त आर ॥

एक वैष्णव (भक्ति-योगी) को बुरी संगत से बचे रहना चाहिए - ऐसे लोगों से जो भौतिक रूप से आसक्त होते हैं, जिन्हें अवैध यौनक्रिया का लत होता है, और जो पूर्ण सत्य के ज्ञान के अर्जन में रुचि नहीं रखते हैं। (चैतन्य-चरितामृत, मध्य-लीला २२.८७)

श्री कृष्ण का सर्वोच्च निवास भक्ति-योगी का अंतिम गंतव्य होता है और कृष्ण कहते हैं कि उनका निवास सूर्य, चंद्रमा या अग्नि से प्रकाशित नहीं होता। सूर्य, चंद्रमा या अग्नि से प्रकाशित न होने का अर्थ है कि उनका परम धाम भौतिक जगत में मौजूद अंधकार की पहुंच से परे है। कृष्ण के परम धाम में, जो आत्मबोध-युक्त योगियों द्वारा गोलोक वृंदावन के नाम से जाना जाता है, सब कुछ श्रीकृष्ण की प्रभा से उज्ज्वलित है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वहां न तो सूर्य की रोशनी है, न चाँद की, न तारों की, न ही वहां बिजली चमकती है। फिर अग्नि कैसे जला सकती है? जब परम पुरष प्रकाशित होते हैं, तब ये सभी प्रकाशित हो जाते हैं। अपनी प्रभा के माध्यम से ही वे सब कुछ रोशन करते हैं। (कठोपनिषद् २.२.१५)

श्री कृष्ण यह भी कहते हैं कि एक बार उनके परम धाम को प्राप्त करने के बाद, कोई भी इस जन्म और मृत्यु के संसार में वापस नहीं आता है। भौतिक दुनिया असीमित दोषों से भरा हुआ है, लेकिन परम धाम अमोघ है। भौतिक जगत के

दोषो में ईर्ष्या, लालच, काम, घृणा, तामसिकता आदि शामिल हैं, लेकिन ये भौतिक गुण कृष्ण के धाम में प्रवेश नहीं कर सकते।

कुछ विचारकों ने यह मान रखा है कि इस भौतिक दुनिया में रहने वाले प्राणी मूल रूप से कृष्ण के परम धाम से अपनी शाश्वत स्थिति से पतित हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों को पतन-वादी' के रूप में जाना जाता है। 'पतन-वादी' की सोच के अनुसार, श्री कृष्ण का परम निवास दोष युक्त है और ईर्ष्या, असंतोष, लालच, घृणा आदि के अधीन है। दोष युक्त होने के लिए अज्ञानता, विस्मृति और संदेह आदि होना चाहिए। परन्तु, यह जानते हुए कि परम धाम में कोई भौतिक गुण मौजूद नहीं हैं, इसलिए वहां के मुक्त जीवों के भौतिक गुणों से दूषित होना संभव नहीं है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि एक बार उस धाम में जाने के बाद भौतिक संसार में कोई नहीं लौटता (यद् गत्वा न निवर्तन्ते)। श्री कृष्ण यह नहीं कहते कि "फिर से" उस परम निवास पर जाने के बाद कोई कभी नहीं लौटता। इसलिए, कृष्ण के शब्दों से यह समझा जाता है कि कोई भी उनके परम धाम से पतन नहीं करता।

आध्यात्मिक और भौतिक दुनिया के सभी जीव श्रीकृष्ण के अवयवभूत अंश हैं - ममैवांशो जिवलोके जीव-भूत सनातनः। हालांकि, वे जीव जो भौतिक प्रकृति से बद्ध हैं, जिन्हें अपनी इंद्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं है, और परम धाम का कोई ज्ञान नहीं है, वे बारम्बार इस जन्म और मृत्यु के संसार में पुनर्जन्म लेते हैं। मृत्यु के समय वे भौतिक इच्छाओं और मन के द्वारा अपने अगले शरीर में चले जाते हैं, जिस तरह पवन सुगंध को अपने साथ बहा ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ १५-९ ॥

कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मन के स्वामी के रूप में जीवात्मा, विषय-वस्तुओं का आनंद लेता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १५-१० ॥

जो अज्ञानी हैं वे आत्मा को ना तब समझते हैं जब वह शरीर का त्याग कर रही हो, न तब जब वह शरीर में निवास कर रही हो, और न तब जब वह

विषय-वस्तुओं का भोग कर रही हो। जिन्हें ज्ञान-चक्षु प्राप्त है केवल वे ही इसे समझ सकते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ १५-११ ॥

निष्ठावान योगी अपने भीतर स्थित आत्मा को देखते हैं, लेकिन जिनमें सच्ची समझ और आत्म-नियंत्रण की कमी होती है, वे इस बात को समझ नहीं पाते चाहे वे कितना भी प्रयास कर लें।

~ अनुवृत्ति ~

इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को जाना नहीं जा सकता और न ही उसे माइक्रोस्कोप या ऐसी किसी वैज्ञानिक तकनीक की सहायता से जाना या देखा जा सकता है, क्योंकि यह अतींद्रिय (भौतिक गुणों से परे) है, यह सत्-चित्-आनंद से बना है। फिर भी, जब कोई श्रीकृष्ण से श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान प्राप्त करता है तब वह अपनी बुद्धिमत्ता से आत्मा की उपस्थिति को समझ सकता है। लेकिन जिनकी बुद्धि भटकी हुई होती है और जिन्हें कोई ज्ञान नहीं है वे किसी भी प्रयास से आत्मा को नहीं समझ सकते हैं, चाहे वह शरीर में रहती हो या जब मृत्यु के समय वह शरीर को छोड़ रही हो। जिन्हें सच्चा ज्ञान है और जो अपनी बुद्धिमत्ता का सही उपयोग करते हैं केवल वे ही आत्मा को समझ सकते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १५-१२ ॥

यह जानो कि मैं ही सूर्य, चंद्रमा और अग्नि का प्रकाश हूँ जो सारे जगत को रोशन करता हूँ।

गामाविश्य च भूतानिधारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १५-१३ ॥

अपनी शक्तियों से मैं पृथ्वी में प्रवेश करता हूँ और सभी जीवों का पालन करता हूं। मैं चंद्रमा बनकर सभी वनस्पतियों का पोषण करता हूँ, और उन्हें जीवन-सत्त्व प्रदान करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१५-१४॥

मैं सभी प्राणियों में रहने वाली पाचन की अग्नि (वैश्वानर) हूँ, और सभी प्रकार के भोजन को पचाने के लिए मैं ही अंदर आने वाली प्राण-वायु तथा बाहर जाने वाली अपान-वायु से सम्मिलित होता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५-१५॥

मैं सभी जीवित प्राणियों के हृदय में वास करता हूँ, और मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और विस्मृति पैदा होते हैं। सभी वेदों द्वारा केवल मुझे ही जाना जाता है। मैं वेदांत का रचयिता हूँ एवं मैं ही वेदों का ज्ञाता हूँ।

~ अनुवृत्ति ~

स्वभाव से यह भौतिक संसार एक अंधकारमय और निर्जीव स्थान है। सूर्य, चंद्रमा और तारों के बिना इस दुनिया में अंधकार ही होता। श्री कृष्ण कहते हैं कि इन खगोलीय ग्रहों को उन्ही से प्रकाश मिलता, वे ही भोजन के पाचन के लिए ऊर्जा प्रदान करते हैं, और सारे जीवन का पोषण भी वे ही करते हैं।

तत् पदं परमं ब्रह्मा सर्वं विभजते जगत् ।
ममैव तद्धनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ॥

हे भारत, परम ब्रह्मन सारे जगत को प्रकाशित करता है। यह जानो कि यह महान प्रकाश मेरा ही है। (हरि-वंश २.११४.११)

यह सोचना कि भौतिक पदार्थ ही जीवन का स्रोत है, निस्संदेह एक अल्प बुद्धिशाली प्रस्ताव है। हमारे पास इसका एक ही उदाहरण यह है की हम हर जगह देखते हैं कि जीवन, जीवन से ही पैदा होता है। हम यह भी देखते हैं कि जीवन की रचना बुद्धिमत्तापूर्ण है। अत: विवेकशील निष्कर्ष यह होना चाहिए कि सभी जीवन एक बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन स्रोत से ही उत्पन्न होता है। सब कुछ श्री कृष्ण से ही उद्भव होता है।

ॐ जन्माद्यस्य यतः

> परम वे हैं जिनसे यह सृष्टि, पालन, तथा इस व्यक्त जगत का विनाश होता है। (वेदान्त-सूत्र १.१.२)

श्री कृष्ण यह भी कहते हैं वे परमात्मा के रूप में सभी जीवों के हृदय में स्थित होते हैं, और उनसे ही सभी स्मृति, ज्ञान, एवं विस्मृति उत्पन्न होती हैं। वे कहते हैं कि वेदों के माध्यम से केवल उन्हीं को (कृष्ण को) जाना जाता है। वे ही वेदान्त को प्रकट करते हैं, एवं वे ही वेदों के ज्ञाता हैं। इसकी पुष्टी भी हरि-वंश में इस प्रकार की गई है -

वेदे रामयणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

> आरंभ में, मध्य में और अंत में भी, सभी वेद, रामायण, पुराण और महाभारत केवल श्री कृष्ण की ही महिमा का गुणगान करते हैं। (हरि-वंश ३.१३२.३५)

वेदों को चार मुख्य भागों में विभाजित किया गया है - ऋग, यजुर, साम और अथर्ववेद। उसके बाद आता है उपनिषद् और पूरक साहित्य जैसे अठारह पुराण (श्रीमद्भागवतम् सहित), महाभारत (श्रीमद्भगवद्गीता), रामायण और वेदांत-सूत्र आते हैं। इन सभी के द्वारा हरि, श्री कृष्ण को ही जाना जाता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५-१६॥

दो प्रकार के जीव होते हैं - वे जो भौतिक जगत में हैं और वे जो आध्यात्मिक जगत (वैकुंठ) में होते हैं। भौतिक दुनिया में सभी जीव क्षर (दोषक्षम) हैं, जबकि आध्यात्मिक जगत में सभी जीव अक्षर (अमोघ) होते हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५-१७॥

एक और व्यक्ति हैं, जो परम पुरुष हैं, जो अविनाशी परम चेतना हैं, और तीनो (उच्च, मध्य, एवं निम्न) लोको में प्रवेश करके उनका पालन करते हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५-१८॥

मैं सभी क्षर प्राणियों से श्रेष्ठ हूँ, और में उनके भी परे हूँ जो अक्षर हैं। इसलिए मैं ब्रह्माण्ड और वेदों में परम पुरष (पुरुषोत्तम) के रूप में गौरवान्वित हूँ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१५-१९॥

हे भारत, जो भ्रम से मुक्त होता है वह मुझे परम पुरष के रूप में जानता है। ऐसा व्यक्ति सब कुछ जानता है और पूरे मन से मेरी आराधना करता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥१५-२०॥

हे दोषहीन अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हें शास्त्र के सबसे बड़े रहस्य को समझाया है। हे भारत, इसे समझ कर मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है और उसके सभी कर्म शुद्ध एवं परिपूर्ण हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

इस संसार में दोष युक्त (क्षर) जीव वे हैं जो भौतिक प्रकृति के त्रिगुणों के अधीन हैं और दोष मुक्त (अक्षर) जीव वे हैं जो कृष्ण चेतना की साधना के द्वारा पारलौकिक ज्ञान की खोज में लगे हुए हैं। दोष मुक्त जीवों को सिद्ध पुरुष माना जाता है। श्री कृष्ण कहते है कि वे क्षर जीवों से श्रेष्ठ हैं एवं वे अक्षर जीवों से भी परे हैं, क्योंकि वे परम पुरुष (भगवान्) हैं। इसका अर्थ यह है कि सिद्ध पुरष कभी भी परम पुरुष नहीं बन सकते या कृष्ण के साथ एक (विलीन) नहीं हो सकते हैं। श्री कृष्ण परम पुरुष हैं और वे सदा रहेंगे। भगवद्गीता और पूरे वैदिक साहित्य में इसका उद्घोष पाया जाता है।

एकले ईश्वर कृष्ण आर सब भृत्य ।
यारे यैछे नाचाय से तैछे करे नृतय ॥

अकेले श्री कृष्ण ही सर्वोच्च नियंत्रक हैं। बाकी सभी उनके सेवक हैं। श्री कृष्ण जैसे उन्हें नचाए वैसे ही नाचते हैं। (चैतन्य-चरितामृत, आदि-लीला ५.१४२)

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं उद्धृत्यभुजमुच्यते ।
वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति न देवः केशवात्परः ॥

अपनी बाहुओं को उठाकर, मैं पूर्ण रूप से यह घोषणा करता हूँ कि वेदों से बड़ा कोई शास्त्र नहीं, और केशव (कृष्ण) से श्रेष्ठ कोई देव नहीं है। बार-बार मैं यह कहता हूँ कि यही सत्य है, यही सत्य है, यही सत्य है। (हरि-वंश, शेष-धर्म-पर्व २.१५)

भौतिक संसार में जीवन की परिपूर्णता का अर्थ है - सामाजिक संरचना (धर्म), आर्थिक विकास (अर्थ), भौतिक भोग (काम), और मोक्ष। इतिहास हमें दिखाता है कि शायद ही कभी कोई सभ्यता सामाजिक संरचना, आर्थिक विकास और भौतिक भोग से उपर उठता है। मोक्ष जीवन का चौथा लक्ष्य है, और भौतिक भोग में लीन लोगों द्वारा कदाचित ही कभी इसकी इच्छा जताई जाती है। इस तरह के सुखवादी समाज खाने, सोने, संभोग और अपनी रक्षा की पूर्ति से ही आसानी से संतुष्ट हो जाते हैं। परन्तु, मोक्ष से भी अधिक दुर्लभ जीवन का पांचवा लक्ष्य है प्रेम-भक्ति या भक्ति-योग, प्रेम का योग।

आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनम् ।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधू वर्गेण या कल्पिता ॥
श्रीमद्भागवतम् प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान् ।
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

परम पुरुष श्री कृष्ण और उनका परम धाम - वृन्दावन, सर्वाधिक पूजनीय हैं। उनकी पूजा करने की सर्वोच्च विधि वही है जैसे कि सुन्दर गोपियों - व्रज की युवा पत्नियों, द्वारा अपनाई गई थी। श्रीमद्भागवतम् सबसे शुद्ध और सबसे सप्रमाण शास्त्र है, और दिव्य प्रेम, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से परे मानव जीवन की पांचवी और सर्वोच्च उपलब्धि है। इस तरह उसे पंचम-पुरुषार्थ के रूप में माना जाता है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का निर्णय है और हम इस निष्कर्ष का सर्वोच्च सम्मान करते हैं। (चैतन्य-मत-मञ्जुष)

अतः, भगवद्गीता के अध्येता को मानव समाज के पहले चार लक्ष्यों में बहुत कम रुचि होती है, क्योंकि ये सभी उपलब्धियाँ अस्थायी हैं और ये परम पुरुष से योग की ओर नहीं ले जाती हैं। जो श्री कृष्ण की ओर ले जाए केवल उसे ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए पुरुषोत्तम योग नामक पन्द्रहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १६

दैवासुर संपद विभाग योग

श्रीभगवानुवाच।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१६-१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१६-२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥१६-३॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - हे भारत, ये दिव्य प्रकृति से युक्त जन्म लेने वाले लोगों (देव) के विभिन्न गुण हैं - निर्भयता, हृदय की निर्मलता, आध्यात्मिक ज्ञान में तन्मयता, दान, आत्म-नियंत्रण, बलिदान, वेद अध्ययन, तपस्या, निष्कपटता अहिंसा, सत्यनिष्ठा, क्रोध से मुक्ति, त्याग, शांति, दूसरों में दोष ढूंढने से विमुखता, सभी प्राणियों के लिए करुणा, धनलोलुपता का अभाव, सौम्यता, विनय, स्थिरता, पराक्रम, क्षमा, धैर्य, स्वच्छता, ईर्ष्या और प्रतिष्ठा की इच्छा से मुक्ति।

दम्भो दोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥१६-४॥

दंभ, अहंकार, अभिमान, क्रोध, क्रूरता और अज्ञान - ये उनके गुण हैं जो आसुरी प्रकृति में जन्म लेते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥१६-५॥

दैवी-गुण मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाता है, जबकि आसुरी-गुण कर्मों के बंधन का कारण बनता है। लेकिन तुम निश्चिंत रहो हे पाण्डव, क्योंकि तुम्हारा जन्म दैवी-गुण में हुआ है।

द्वौ भूतसौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥१६-६॥

हे पार्थ, दो तरह के लोग इस संसार में जन्म लेते है - देव और असुर। मैंने तुम्हें देवों के बारे मे विस्तृत रूप से बताया है। अब तुम मुझसे असुरों का वर्णन सुनो।

~ अनुवृत्ति ~

इस अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन से मनुष्यों की दो सामान्य श्रेणियां, देवों और असुरों, या धार्मिक और अधार्मिक का वर्णन करते हैं। यहां तक, गीता के दौरान, कृष्ण ने देवों के कई गुणों और उनकी विशेषताओं को बताया है। ये वे गुण हैं जिन्हें हम एक 'अच्छे इंसान' में देखते हैं और ये गुण आत्म-साक्षात्कार के लिए भी अनुकूल हैं। इस अध्याय के श्लोक १ से ३ में इनका वर्णन किया गया है।

अब कृष्ण विस्तारपूर्वक असुरों के गुणों का वर्णन करते हैं, जिससे अर्जुन यह निर्णय ले सके कि वह किस मार्ग पर चले और कैसी संगत को चुने। अंततः धार्मिक और अधार्मिक के बीच भेद् करने में सक्षम होकर, अर्जुन अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर पाएगा जो कुरुक्षेत्र में उसके सामने खड़े हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥१६-७॥

जो लोग असुर स्वभाव के होते हैं वे इस बात का भेद् नहीं कर पाते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। उनमें कोई शुद्धता, उचित व्यवहार या सच्चाई पाई नहीं जाती।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥१६-८॥

वे दावा करते हैं कि यह संसार मिथ्या है, निराधार है और बिना किसी दैवत्व के है। उनका मानना है कि स्त्री और पुरुष के बीच का संबंध ही सबका स्त्रोत है, और यह की काम-वासना के अतिरिक्त जीवन का अन्य कोई उद्देश्य नहीं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥१६-९॥

इस दृष्टिकोण के अनुसार, ऐसे लोग, जो भ्रष्ट एवं अल्पबुद्धि होते हैं, वे दुनिया के विनाश के लिए द्रोही गतिविधियों में संपन्न और संलग्न होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासनाहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१६-१०॥

अपनी अतोषणीय काम वासनाओं से आसक्त एवं दम्भ व घमण्ड में डूबे, ऐसे लोग मोह के कारण कपटपूर्ण वैचारिकी अपनाते हैं, और अशुद्ध कृत्यों की प्रतिज्ञा लेते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥१६-११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१६-१२॥

इस विश्वास के साथ की अपनी लालसा और अपनी काम-वासनाओं को पूरा करना ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है, वे मृत्यु के समय तक अनगिनत वयग्रताओं से गुज़रते हैं। सैंकड़ों महत्वाकांक्षाओं से बंधे, काम और क्रोध में लीन, वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए किसी भी अनुचित तरीके से धन इकट्ठा करने के प्रयास में लगे रहते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१६-१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१६-१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१६-१५॥

वे कहते हैं: "मैंने आज यह हासिल किया है, अब मैं अपनी अन्य इच्छाएं पूरी करूँगा। यह धन मेरा है और भविष्य में यह बढ़ेगा। इस क्षत्रु का मैने वध किया है और भविष्य में मैं दूसरों को भी मार दूंगा। मेरा ही राज है! मैं ही भोगी हूँ! मैं सिद्ध हूँ! मैं शक्तिशाली हूँ! मैं सुखी हूँ! मैं धनी और कुलीन हूँ। क्या मेरे बराबर कोई है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और भोग करूंगा! इस प्रकार वे अज्ञान से बहक जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

उचित और अनुचित कार्यों के बीच भेद करने में असमर्थता एक असुर का पहला स्पष्ट दिखाई देने वाला लक्षण है। इसके अतिरिक्त, श्री कृष्ण कहते हैं कि असुर प्रकृति के लोग यह नहीं जानते कि पवित्रता, उचित व्यवहार या सत्यता

क्या है। सत्यता, स्वच्छता, तपस्या और द्या मनुष्य में सर्वाधिक वांछनीय गुण हैं, लेकिन जो असुर स्वभाव के होते हैं उनमें इन गुणों का पूर्ण अभाव होता है।

श्री कृष्ण असुर मानसिकता के लोगों के गुणों और वैशिष्ट्यों का विस्तारपूर्ण वर्णन जारी रखते हैं, और कृष्ण जो कह रहे हैं उस पर यदि ध्यान दिया जाए, तो हमे इस कडवे सत्य को मानना पड़ेगा कि आज हम जिस दुनिया में रहते हैं वह असुरों की प्रवृत्ति और गतिविधियों से भरी पड़ी है।

आज, हमारी दुनिया की संरचना बड़े पैमाने पर उपभोक्तावाद पर आधारित है, “जब तक थक कर चूर नहीं हो जाते, खरीददारी करते रहिए” की मानसिकता (“Shop till you drop” mentality)। भोग, भोग, और बस भोग! “यदि अच्छा लगता है तो जरुर करो” वाली मानसिकता (“If it feels good, do it’ mentality) हर जगह है। हमें यह मानने के लिए बाध्य किया जाता है कि परम-सत्य नाम की कोई चीज ही नहीं है, बस यही एक जीवन है और इसलिए जबतक जीवित हैं हमें इसका भरपूर आनंद लेना चाहिए - पुरुषों और महिलाओं की यौन वासना की पूर्ति इस तरह के आनंद में सबसे आगे है। प्रतीक के तौर पर, दुनिया भर में, गर्भनिरोधक और गर्भपात की अनौपचारिक और कानूनी स्वीकृति ही इस बात को स्पष्ट दर्शाती है।

आज के मनुष्य की मानसिकता को देखकर ऐसा लगता है कि दुनिया सर्वनाश के पथ पर जा रही है - पर्यावरण के उजाड़ने से, अर्थव्यवस्था के ढह जाने से, कई जन्तु प्रजातियों के विलुप्त हो जाने से, और तो और कुछ मानव प्रजातियों के भी विलुप्त हो जाने से, यही महसूस होता है। क्या हम देख नहीं पा रहे कि क्या हो रहा है? क्या मानव जाती अपनी उपलब्धियों से इतना घमंडी और हठी हो गया है कि वह अन्धा हो गया है?

सभ्य दुनिया में एक अच्छी सरकार का होना जरूरी है। ऐसी सरकार का उद्देश्य समाज को खतरे से बचाने का है - न केवल एक हमलावर सेना के खतरे से, बल्कि उन अनैतिक विचारधाराओं के खतरे से भी जो एक सभ्यता को भीतर से नष्ट कर सकती हैं। दुर्भाग्य से, ऐसा लगता है जैसे की दुनिया भर में सरकारों ने उचित व्यवहार के सभी लक्षणों को छोड़ दिया है और वे खुद ही लोगों को लूटने में प्रमुख हो गए हैं। किसी भी तरह से धन इकट्ठा करना और लोगों को जीवन की सबसे बुनियादी आवश्यकताओं से भी वंछित करना, ऐसे निरंकुश

शासकों को कोई शर्म नहीं आती। सचमुच ही, दुनिया असुर मानसिकता वाले लोगों के हाथों में घोर अंधकार की अवधि में है।

अपने उच्च मंचो से राज्य के प्रमुख घोषणा करते हैं, "हमे अपने दुश्मनों को मार गिराना चाहिए। दुष्टों को निश्चित ही सबक सिखाना चाहिए। हम विजयी होंगे, हम दुनिया पर राज करेंगे, हम सुख का भोग करेंगे, हम चुने हुए लोग हैं, हम शक्तिशाली हैं, हम खुशहाल हैं और कोई भी हमारे जैसा नहीं हैं।" जबकि जनता का उन्माद उदंड रूप से बढ़ता है, निर्दोषों को मौत के घाट उतारा जाता है, और पृथ्वी अपने बच्चों के लिए रोती है। फिर भी ऐसा लगता है कि हम चिन्ताहीन हैं। कृष्ण कहते हैं कि, ऐसा है हमारा अज्ञान।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६-१६॥

असुरों के दिमाग विभिन्न भ्रामक विचारों से भरे होते हैं और इस तरह वे मोह जाल में फंसे हुए होते हैं। जैसे वे अपनी सांसारिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए कार्यरत होते जाते हैं, वैसे ही उनका घोर नरक में पतन होता है।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१६-१७॥

आत्म-महत्त्व से भरपूर, जिद्दी और अपने धन की नशे में धुत, वे केवल नाम-मात्र के लिए उचित विधी का पालन किए बिना ही अभिमान से यज्ञों को करते हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१६-१८॥

पूरी तरह से अहंकार, बल, अभिमान, काम और क्रोध के वश में होकर, ऐसे लोग मुझसे घृणा करते हैं, हालांकि मैं उनके और दुसरों के भी शरीर में वास करता हूँ।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१६-१९॥

ऐसे ईर्ष्यालु और क्रूर व्यक्ति सदा ही उन दुराचारी और अधर्मियों के बीच निरंतर जन्म लेते हैं, जहाँ वे जन्म और मृत्यु के चक्र में बार-बार दुख झेलते हैं, क्योंकि वे मनुष्यों में सबसे अधम हैं।

आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥१६-२०॥

हे कौन्तेय, सदैव असुरों के बीच जन्म लेने वाले ऐसे मूर्ख मुझे कभी प्राप्त नहीं करते। बल्कि, वे सबसे घृणित अवस्था में गिर जाते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१६-२१॥

निम्न लोकों (नरक) और आत्म-विनाश की ओर जाने के लिए तीन मार्ग हैं - काम, क्रोध और लालच। इसलिए, इन तीनों को छोड़ देना चाहिए क्योंकि वे आत्म-साक्षात्कार के महान विध्वंसक हैं।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥१६-२२॥

हे कुन्ती पुत्र, जो अंधकार के इन तीन मार्गों से मुक्त है, वह अपने सर्वोत्तम हित के अनुकूल ही अपना आचरण करता है। वह क्रमश: परम धाम में पहुंच जाता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
नस सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१६-२३॥

जो व्यक्ति अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए वेदों के नियमों की उपेक्षा करता है, वह कभी भी सिद्धि, सुख या परम धाम प्राप्त नहीं करता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥१६-२४॥

वैदिक निषेधाज्ञाएँ तुम्हारे विश्वस्त प्रमाण हैं, यह जानने के लिए कि क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं। इसलिए, इनके माध्यम से संसार में अपने कर्तव्यों को समझकर तुम्हें उनके अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

~ अनुवृत्ति ~

अंतत: जब कोई व्यक्ति असुरों के पथ का अनुसरण करता है, तब ना तो उसे सुख, सफलता या ख़ुशहाली मिलती है, ना ही उसे आत्म-साक्षात्कार के पथ पर प्रगति प्राप्त होती है। तो फिर क्या करना चाहिए?

भगवान् श्री कृष्ण ने श्लोक २१ में आसुरी मनोवृत्ति की तीन मुख्य लक्षणों की पहचान, काम (वासना), क्रोध और लोभ (लालच) के रूप में की है। निश्चित ही ये वृत्तियां जीवों में अत्यंत दुर्भाग्य का कारण बनते हैं, और इस तरह ये आत्म-साक्षात्कार के विनाशकर्ता हैं। इसलिए, वासना, क्रोध और लालच पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, यदि व्यक्ति अपने मानव जीवन को सार्थक बनाना चाहता हो। वासना, क्रोध और लालच जैसे महान शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, इन्द्रियों को नियंत्रित करने में स्वयं को पूरी तरह से कर्मठतापूर्वक लागू करना चाहिए और भक्ति-योग में निर्धारित कार्यों को करना चाहिए, जिसे साधना कहा जाता है। साधना का अभ्यास गुरु से सीखा जाता है, जो एक तत्त्वदर्शी हैं, जिन्होंने सत्य को देखा है, और गुरु अपने छात्र को उसकी क्षमता और आध्यात्मिक उन्नति के वर्तमान चरण के अनुसार निर्देश देते हैं। इसके लिए, गुरु भक्ति-योग में सभी छात्रों को महा-मंत्र का जाप करने और श्री कृष्ण पर मन को केन्द्रित करने की सलाह देते हैं। यह प्रक्रिया सभी के लिए शुद्ध और लाभकारी है, चाहे व्यक्ति नौसिखिया हो या बहुत उन्नत हो। हर किसी को वासना, क्रोध और लालच के दुश्मनों को परास्त करने के लिए महा-मंत्र जप में संलग्न होना चाहिए, और कलियुग के अज्ञान और अंधकार को दूर करना चाहिए।

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपाप प्रणाशनम् ।
प्रणामो दु:ख शमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥

महामन्त्र का जाप हमें सारे अवांछनीय आदतों से, सभी अवांछनीय गुणों से, एवं सभी दु:खों से मुक्त कर सकता है। महामन्त्र का जाप करें! कुछ और आवश्यक नहीं। महामन्त्र का जाप करें और इस सबसे व्यापक एवं विस्तृत आस्तिक अवधारणा के साथ इस अंधकारमय कलियुग में अपने सच्चे जीवन की शरुआत करें। चलिए हम सभी श्री कृष्ण को नमन करें। (श्रीमद्भागवतम् १२.१३.२३)

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अतः व्यास विरचित शतसहस्त्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए दैवासुर संपद् विभाग योग नामक सोलहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १७

श्रद्धात्रय विभाग योग

अर्जुन उवाच ।
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१७-१॥

अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण, जो लोग श्रद्धा से अराधना करते हैं किंतु वेदों के नियमों का पालन नहीं करते, उनका क्या स्थान है? इस तरह की उपासना को किस प्राकृतिक गुण में समझा जाता है - सत्त्वगुण में, रजोगुण में या तमोगुण में?

श्रीभगवानुवाच।
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥१७-२॥

भगवान् श्री कृष्ण ने उत्तर में कहा - देहधारी जीवात्माओं की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है - सात्त्विक, राजसिक, और तामसिक। पिछले जन्मों से प्राप्त हुए संस्कारों के अनुसार जीवात्मा में उस प्रकार की श्रद्धा प्रकाशित होती है। इस विषय पर और सुनो।

सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥१७-३॥

हे भारत, अपनी प्रज्ञा के अनुसार, प्रत्येक जीवात्मा एक विशिष्ट प्रकार की श्रद्धा को विकसित करती है। वास्तव में, व्यक्ति की श्रद्धा ही उसकी पहचान है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥१७-४॥

सात्त्विक लोग देवी-देवताओं की उपासना करते हैं; राजसिक लोग यक्ष-राक्षसों की उपासना करते हैं, और जो तामसिक हैं वे भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥१७-५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥१७-६॥

अज्ञानी लोग, घमण्ड एवं अहमभाव के कारण ऐसी कठोर तपस्याएं करते हैं जिनका वेदों में कोई आधार नहीं पाया जाता। काम, महत्त्वाकांक्षा और सत्ता की लालच से प्रेरित होकर वे अपने शरीर को अत्यंत ही पीड़ा पहुंचाते हैं, और क्योंकि मैं उनके शरीर के भीतर स्थित हूँ, इस प्रकार से वे मुझे भी पीड़ा पहुंचाते हैं। यह जानो कि ऐसे व्यक्ति आसुरी स्वभाव के होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

इस अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन के उस प्रश्न का उत्तर देते हैं जो ऐसे लोगों के बारे में है जो वेदों के नियमों का पालन नहीं करते, किंतु श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं। अर्जुन जानना चाहता है कि ये लोग किस प्राकृतिक गुण से नियंत्रित हैं। यहां पर पहली शिक्षा यह दी जाती है कि यदि कोई वैदिक नियमों का अनुसरण नहीं करता तो वास्तव में वह केवल अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करता है, हालांकि ऐसा करने से वह भौतिक गुणों (सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण) के अधीन हो जाता है। अत: वह कभी भी पारलौकिक स्तर पर स्थित नहीं माना जाता है। तत्पश्चात् श्री कृष्ण आहार, यज्ञ, तपस्या, एवं दान का वर्णन करते हुए बताते हैं कि कैसे ये प्रकृती के तीन गुणों से प्रभावित होते हैं या उनसे जन्म लेते हैं।

सबसे पहले श्रद्धा पर चर्चा की जाती है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि व्यक्ति के वर्तमान जीवन में उसके स्वभाव और उसके मन से जुड़े पिछले जन्मों के संस्कार के कारण श्रद्धा उत्पन्न होती है। जीवन की सभी गतिविधियां लगभग श्रद्धा पर ही निर्भर होते हैं। एक आस्तिक की श्रद्धा कहती है कि भगवान् हैं, और एक नास्तिक की श्रद्धा कहती है की भगवान् नहीं हैं। यदि कोई किसी सिद्धान्त का प्रस्ताव करे है और फिर यह कह दे कि उसे अपने प्रस्ताव पर 'श्रद्धा' नहीं है, तो यह केवल कपट कहलाता है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि जब किसी की श्रद्धा सत्त्वगुण में होती है, तब वे देवी-देवताओं, जैसे कि गणेश, शिव, सूर्य, इन्द्र, सरस्वति इत्यादि की पूजा करते हैं। जब किसी की श्रद्धा तमोगुण में होती है, तब वे निसर्ग के सत्व की या पूर्वजों की पूजा करते हैं - इस वर्ग के लोगों में मानवतावादी एवं अनीश्वरवादी भी सम्मिलित हैं। जब किसी की श्रद्धा तमोगुण में होती है, वे भूत-प्रेत की पूजा करते हैं। पूजा के ये सभी प्रकार आज के संसार में प्रचलित हैं।

भारत में, बहुत लोग बड़े बड़े मन्दिर बनाकर एवं यज्ञ सके माध्यम से देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। सुदूर-पूर्वीय देशों में, पूर्वजों की पूजा बुद्ध धर्म, शिंतो धर्म, और ताओ धर्म के अनुयायियो में अत्यंत ही लोकप्रिय है। इसी प्रकार, युरोप एवं अमेरिका में, वैज्ञानिकों, राजनेताओं, सैनिकों, फिल्मी सितारों, रोक सितारों आदि जैसे लोगों को सम्मानित करने के लिए बड़े बड़े इमारत खड़े किए जाते हैं। अफ्रीका, तिब्बत, मेक्सिको, और दक्षिण-अमेरिका में, भूत-पिशाच की पूजा लोकप्रिय है। ये सभी पूजाएं भौतिक त्रिगुणों के प्रभाव से ही किए जाते हैं। अतएव, निष्कर्ष यह निकलता है कि वेदों के नियमों की उपेक्षा करने के कारण, देवी-देवताओं, पूर्वजों, प्रसिद्ध व्यक्तित्वों, भूत-प्रेतों इत्यादि की पूजा पारलौकिक स्तर पर नहीं हैं।

भौतिक त्रिगुणों से परे होने का तात्पर्य है वेदों को स्वीकार करना और इस प्रकार विशुद्ध-सत्त्व के पारलौकिक स्तर पर स्थित होना। जब किसी की श्रद्धा विशुद्ध-सत्त्व में स्थित होती है, तब वह श्री कृष्ण की पूजा करता है। यही एक-ईश्वरवाद (यह मानना की केवल एक ही परम भगवान् हैं) का सर्वोच्च स्तर है। विशुद्ध-सत्त्व का शिव जी ने इस प्रकार वर्णन किया है -

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम् ।
यदीयते तत्र पुमानपावृतः ॥
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ।
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥

> श्री कृष्ण की आराधना विशुद्ध-सत्त्व में स्थित होकर किया जाना चाहिए। विशुद्ध-सत्त्व ऐसी शुद्ध-चेतना का स्तर है जिसमें वासुदेव' के नाम से विदित परम-सत्य, बिना किसी आच्छादन के व्यक्त होते हैं। (श्रीमद्भागवतम् ४.३.२३)

शुद्ध चेतना के स्तर पर व्यक्ति सेर्वोच्च प्रकार की श्रद्धा, 'निर्गुण-श्रद्धा' से निर्देशित होता है, जो भौतिक प्रकृति के गुणों से बिलकुल ही अदूषित होती है। वेदों का अनुसरण और धर्मनिष्ठ साधुओं की संगत करते हुए कई जन्मों के पश्चात व्यक्ति में सुकृति (पुंजित श्रेय) उत्पन्न होता है। सुकृति व्यक्ति को साधु-संग (आत्मबोध युक्त योगियों) की ओर ले जाता है, और इस प्रकार साधुओं के मार्गदर्शन से निर्गुण-श्रद्धा का विकास विभिन्न स्तरों के माध्यम से होता है, और अंततः आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च स्तर - प्रेम-भक्ति तक पहुंचाता

निर्गुण-श्रद्धा एक भक्ति-योगी के हृदय में उदय होती है और उसे पारलौकिक अधोक्षज क्षेत्र में परम सत्य को देखने, सुनने, एवं अनुभव करने में सक्षम बनाती है। निर्गुण-श्रद्धा वह है जो श्री कृष्ण की अनुभूति प्राप्त कराती है, उसी तरह जैसे कि एक बिजली की चमक रात के अंधेरे में सावन के बादलों के आकार को व्यक्त करती है। रात के अंधेरे में बादलों को देखा नहीं जा सकता, लेकिन जब बिजली चमकती है, बादलों का आकार दिखाई देता है। उसी तरह, जब निर्गुण-श्रद्धा योगी के हृदय में उदय होती है, तब वे सौन्दर्य के उस अनुपम रूप को देख पाते हैं, जो श्री कृष्ण का स्वयं रूप है।

निर्गुण-श्रद्धा से मार्गदर्शित भक्ति-योगी अनुभव करते हैं कि वे श्री कृष्ण के लिए ही बने हैं, कि वे उनसे स्वतंत्र नहीं हैं। गुणातीत परम पुरुष को समझने की प्रक्रिया कुछ ऐसी होती है कि व्यक्ति को लगना चाहिए कि वह पूर्ण रूप से श्री कृष्ण पर निर्भर है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति काम, महत्त्वाकांक्षा, सत्ता, दंभ एवं अहंकार द्वारा प्रभावित होते हैं, प्राय: वे ऐसी घोर तपस्याएं करते हैं जो वेदों में या भक्ति-योग के विधियों में निर्धारित नहीं होती - ऐसी तपस्याएं शरीर के इन्द्रियों को शुष्क बना देती हैं। इन तपस्याओं में सम्मिलित हैं - दीर्घकालीन उपवास, अपने शरीर पर स्वयं कोड़े मारना, अपने आप को सूली पर चढ़ाना, रोमच्छद बेड़ियां पहनना, शरीर के अंगों को छेदना, तप्त कोयले पर नंगे पैर चलना इत्यादि। चूंकि ये तपस्याएं तमोगुण में किए जाते हैं, ये अन्तर्थित परमात्मा की अवहेलना करते हैं, और इसलिए इनसे कोई अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं होता। श्री कृष्ण कहते हैं कि ऐसी तपस्या करनेवाले असुर हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ १७-७॥

लोगों का पसंदीदा आहार और साथ साथ यज्ञ, तप एवं दान की विधियां भी तीन प्रकार की होती हैं। अब इनके बीच में जो अन्तर हैं, उन्हें सुनो।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ १७-८॥

जो आहार आयु, सत्त्व, बल, स्वास्थ्य, प्रसन्नता एवं तृप्ति को बढ़ाए, जो रसभरा, वसायुक्त, पौष्टिक एवं आकर्षक है, ऐसा आहार सात्त्विक लोगों के लिए अत्यंत ही प्रिय है।

कट्वाम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥१७-९॥

जो आहार बहुत कड़वा, खट्टा, नमकीन, मसालेदार, तीखा या बहुत रूखा-सूखा हो, और जो शरीर में जलन पैदा करे, ऐसा आहार दर्द, शोक एवं रोग उत्पन्न करता है। ऐसा आहार राजसिक लोगों के लिए अत्यंत ही प्रिय है।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१७-१०॥

जो आहार बासी, नीरस, बदबूदार, सड़ा हुआ, दूसरों से फेंका हुआ, और जो यज्ञ में आहुति देने के अयोग्य है, ऐसा आहार तामसिक लोगों के लिए अत्यंत ही प्रिय है।

~ अनुवृत्ति ~

जैसा कि एक फ्रांसीसी नेता, वक़ील एवं विशेषज्ञ, जौं ओन्थेल्मा ब्रीयां-सँवरें (Jean Anthelme Brillat-Savarin) ने १९८६ मे लिखा था, "Dis-moi ce que tu manges, je te dirai ce que tu es" - मुझे यह बताओ कि आप क्या खाते हो और मैं बताता हूँ कि आप क्या हो”। दूसरे शब्दों में, आप वैसे ही हो जैसा आपका आहार है। किन्तु इस बात को आज के लोगों के मुकाबले प्राचीन समय के लोग बेहतर समझते थे। श्री कृष्ण कह रहे हैं कि आहार को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है, और अपने अपने प्राकृतिक गुणों के अनुसार व्यक्ति को एक प्रकार का आहार अधिक प्रिय होता है।

जो आहार आयु बढ़ाए और शक्ति, बल, सेहत, प्रसन्नता, एवं संतृप्ति प्रदान करे उसे सत्त्वगुण में माना जाता है। फल, तरकारी, धान्य, चीनी, नमक, मसाले, एवं दूध के उत्पाद सत्त्वगुण में होते हैं। सामान्य तौर पर इन्हें शाकाहारी आहार कहते हैं जो सात्विक लोगों को प्रिय है।

जो आहार अत्यंत ही कढ़वा, खट्टा, मीठा, नमकीन, मसालेदार, तीखा या बहुत सूखा हो, जो पेट में अत्याधिक जलन पैदा करे, पीड़ा दे, वाता एवं रोग उत्पन्न करे, ऐसे आहार को रजोगुण में कहा जाता है। सम्भव है कि ऐसा आहार शाकाहारी हो सकता है किंतु इसके बावजूद सामान्य तौर पर ये अत्याधिक नमकीन और मसालेदार होते हैं। शरीर में अधिक मात्रा में नमक एवं मसाले, बलगम उत्पन्न करते हैं जिससे उच्च रक्त चाप, दिल का लक़वा, मधुमेह, एवं कैंसर जैसी बिमारियां पैदा होती हैं। ऐसे आहार से बचके रहना ही अच्छा है।

अफलाकाक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥१७-११॥

जो यज्ञ नीजि लाभ की कामना किए बिना स्वार्थ रहित लोगों द्वारा वैदिक विधियों के अनुसार दृढ़ संकल्प से किए जाते हैं, वे यज्ञ सत्त्वगुण में होते हैं।

अभिसन्धाय तु फलंदम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१७-१२॥

परन्तु, हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ अभिमान और स्वार्थ से किए जाते हैं उन्हें रजोगुण में समझना चाहिए।

विधिहीनमसृष्टान्न मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१७-१३॥

वे यज्ञ जिनमें वैदिक विधियों का पालन नहीं होत, जिनमें अन्नदान नहीं दिया जाता, जिनमें उचित मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाता, और जिनमें ब्राह्मणों को दान नहीं दिया जाता - ऐसे यज्ञ श्रद्धाहीन होते हैं और इस तरह वे तमोगुण में होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त करने की इच्छा करने वालों के लिए वेद शास्त्रों में प्रत्येक युगों के लिए एक विशेष यज्ञ का सुझाव दिया गया है। किंतु हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इनमें से किसी भी यज्ञ में रक्त-बलिदान नहीं होता। पशु एवं मानव बलिदान का प्रचलन प्राचीन समय से दुनिया के अनेक भागों में होता आ रहा है, किंतु इतिहास के किसी भी समय में भक्ति-योग के

पथ पर आत्म-साक्षात्कार के साधकों ने कभी भी पशु या मानव बलिदान कभी नहीं किया है।

आज के संसार में, कुछ धार्मिक पंथों में पशुओं को खाने से पहले उनका बलिदान दिया जाता है और कुछ अन्य पंथों में इसी तरह की प्रक्रिया होती है जहां पर एक संत के लहु एवं उनके शरीर का सांकेतिक प्रतिरूप का ग्रहण किया जाता है। किन्तु भक्ति-योग की साधना में इस तरह की सभी असभ्य क्रियाएं बिलकुल ही वर्जित हैं।

आधुनिक युग में, वेद-शास्त्र केवल एक प्रकार के यज्ञ का सुझाव देते हैं और वह है श्री कृष्ण-संकीर्तन जिसमें पञ्च-तत्त्व मन्त्र के पश्चात महा-मन्त्र का उच्चारण होता है -

जय श्री कृष्ण चैतन्य, प्रभु नित्यानन्द ।
जय अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौर-भक्त-वृन्द ॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

महा-मन्त्र के पहले पञ्च-तत्त्व मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए जिस के द्वारा जाने या जाने बगैर किए गए सभी पूर्व अपराधों से साधक को मुक्ति प्राप्त होती है। जब श्री कृष्ण-संकीर्तन की क्रिया श्री कृष्ण महाप्रसाद् के वितरण सहित किया जाता है तब इस यज्ञ को सिद्ध एवं संपूर्ण माना जाता है। कलियुग में किसी भी अन्य यज्ञों की आवश्यकता नहीं है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७-१४॥

भगवान्, ब्राह्मण, गुरु, एवं प्रज्ञ मनीषियों की पूजा करना, तथा स्वच्छता, निष्कपटता, ब्रह्मचर्य, एवं अहिंसा का पालन करना, समुचित शारीरिक तपस्या है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७-१५॥

सत्य वचन उस प्रकार व्यक्त करना जिससे कि सुननेवाले उत्तेजित न हों, जो सुनने में सुखद एवं हितकारी हो, और वेदपाठ करना - इन्हें मौखिक तपस्या कहते हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१७-१६॥

मन की शांति, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, एवं हृदय की निर्मलता को मन की तपस्या कहते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७-१७॥

इन तीन तरह की तपस्याओं को जब निष्ठावान, नि:स्वार्थ व्यक्ति दृढ श्रद्धा के साथ अपनाते हैं, तब उन तपस्याओं को सत्त्वगुण में कहा जाता है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसंचलमध्रुवम् ॥१७-१८॥

प्रतिष्ठा, नाम एवं यश कमाने के लिए अभिमान के साथ किए जाने वाली तपस्याओं को रजोगुण में कहा जाता हैं। ऐसी तपस्याओं के फल अस्थिर और अशाश्वत होते हैं।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७-१९॥

मूर्खता से किए जाने वाली तपस्याएं जो न केवल स्वयं को बल्की दूसरों को भी पीड़ा पहुंचाए, ऐसी तपस्याओं को तमोगुण में कहा जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

तपस्या का अर्थ है कि कुछ ऐसी साधना करना जिससे कि भौतिक क्रियाशीलता का क्षय हो और परम-सत्य की ओर जागरूकता को बढ़ावा मिले। इन तपस्याओं को १४, १५ एवं १६ वे श्लोकों में बताया गया है। शारीरिक तपस्याएं इस प्रकार हैं - स्वच्छता बनाए रखना, सत्यता, ब्रह्मचर्य, एवं अहिंसा। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अवैध यौनक्रिया (विवाह संबंध के बाहर काम-क्रिया) का वर्जन।

भगवान् की पूजा करना एवं गुरु और अन्य साधुओं का सम्मान करना भी शारीरिक तपस्याएं हैं।

जिन तपस्याओं को प्रतिष्ठा, नाम एवं यश कमाने के लिए, घमण्ड से किया जाता है, ऐसी तपस्याओं का त्याग करना चाहिए। इनमें राजनैतिक, सामाजिक, या आर्थिक लाभ के लिए की जाने वाली तपस्याएं सम्मिलित हैं। मूर्खता से कीए जाने वाली तपस्याएं जो केवल पीड़ा और दु:ख देती हैं, उनका भी त्याग किया जाना चाहिए। इस प्रकार इन सभी तपस्याओं का परित्याग होना चाहिए क्योंकि ये राजसिक और तामसिक गुणों में की जाती हैं - अर्थात इनके प्रतिफल अशाश्वत हैं और ये आत्म-साक्षात्कार की ओर नहीं ले जाती। दूसरों को दु:ख न पहुंचाते हुए सत्य वचन कहना मौखिक तपस्या कहलाता है। कहते हैं कि, "सत्य दु:खदायक होता है", किंतु यह बात भगवद्गीता के उपदेशों पर लागु नहीं होता। सत्य को उस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि वह सुनने में आकर्षक एवं मनभावन हो।

सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयान् न ब्रुयात् सत्यम् अप्रियं ।
प्रियं च नानृतं ब्रुयाद् एष धर्मः सनातनः ॥

व्यक्ति को केवल सत्य कहना चाहिए, और उसके वचन मीठे होने चाहिए। जो सत्य कष्टदायक हो उसे न कहना ही अच्छा है, किन्तु असत्य कभी नहीं कहना चाहिए भले ही वह सुनने में कितना भी मीठा लगे - यही सनातन धर्म है। (मनु-संहिता ४.१३८)

श्री कृष्ण सभी जीवों के मित्र एवं शुभचिन्तक हैं और उनके उपदेशों को इस बात को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत करना चाहिए। भगवद्गीता का उपदेश निन्दात्मक नहीं है - वह केवल यह समझाता है कि क्या करना उचित है और क्या करना उचित नहीं है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥१७-२०॥

जो दान प्रतिफल की आशा किए बिना, उचित जगह पर, शुभ काल में, योग्य प्राप्तकर्ता को इस तरह के मनोभव से दिया जाता है कि इस दान को दिया जाना ही चाहिए, वह दान सत्त्वगुण में होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥१७-२१॥

किन्तु, जिस दान को अनिच्छापूर्वक, प्रत्युपकार की आशा एवं प्रतिफल की स्वार्थी आकांक्षा सहित दिया जाता है, वह दान रजोगुण में होता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७-२२॥

जिस दान को अनादर से, अनुचित समय एवं अनुचित जगह पर, एक अयोग्य प्राप्तकर्ता को दिया जाता है, उस दान को तमोगुण में कहा जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

यहां पर अब दान के आदर्शों पर चर्चा हो रही है - किस प्रकार का दान, किसे और किस उद्देश्य से दिया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य बनता है कि वह अपने अन्य मानवी साथियों का खयाल करे। वैसे तो इस संसार में कोई भी भूखा नहीं सोना चाहिए, कोई भी कपड़ों, उचित मकान, शिक्षा, या पर्याप्त चिकित्सा सुविधा के रहित नहीं होना चाहिए। ऐसी सुव्यवस्था को मनुष्य समाज में एक आदर्श स्थिति मानी जएगी। किन्तु आज की वास्तविक परिस्थिति बिलकुल ही अलग है - आज संसार में कई ऐसी जगह हैं जहां पर खाने का अभाव है, कपड़े का, रहने की जगह का, शिक्षा का, एवं चिकित्सा सुविधा का अभाव है, जिसके कारण करोड़ो लोग व्यर्थ ही कष्ट उठा रहे हैं। किंतु केवल चीज़ों के अभाव के कारण इतना कष्ट नहीं है जितना की कुशासन और जमाखोरी के कारण है। इस धरती पर सबके अच्छे सेहत और खुशहाली के लिए पर्याप्त सुविधाएं उपस्थित हैं, किंतु इन सुविधाओं का ठीक से प्रबंध नहीं हो रहा है। और दुनिया में सुविधा-संपन्न और साधनहीन लोगों के बीच हो रहे कुशासन से भी बढ़कर दोष जमाखोरी का है। मानवजाति के सामने खड़े तमाम समस्याओं को, विशेषकर भूख की समस्या को आसानी से मिटाने के लिए पर्याप्त धन उपस्थित है - किंतु इस धन को केवल थोड़े से लोग बटोरकर बैठे हैं। इन लोगों ने इतना सारा धन संचित किया है कि कोई एक व्यक्ति उस धन को एक जनम में तो क्या अगले सात जन्मों में भी खर्च न कर सकेगा। बड़े बड़े कोर्पोरेट कम्पनियों को करोड़ो डोलर सालाना बोनस मिलता है, जबकी दूसरी ओर हर साल करोड़ो बच्चे भूखे मरते हैं। क्या यह शर्मनाक परिस्थित नहीं है?

इस अध्याय में चर्चित अन्य विषयों की तरह दान-कार्यों के भी विभिन्न प्राकृतिक स्वभाव होते हैं जो इस बात पर निर्भर करते हैं कि दान कैसे और किसे दिया जा रहा है। जैसे कि श्री कृष्ण पिछले कुछ श्लोकों में कहते हैं, दान-कार्य सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण में होते हैं, किन्तु, अंततः सर्वोच्च दान तो वही है जो मनुष्य के सभी भौतिक क्लेशों के साथ साथ मृत्यु को भी समाप्त कर दे। इस प्रकार भगवद्गीता में पाए जाने वाले आध्यात्मिक संपत्ति का दान ही सर्वोच्च दान है। इस बात की जानकारी न होना कि हम कौन हैं, हम कहां से आए हैं, जीवन का उद्देश्य क्या है, और मृत्यु के पश्चात हम कहां जाएंगे, यही इस संसार के सभी दुःखों का मूल कारण है। जो इन बातों को भगवद्गीता के दृष्टिकोण से समझता है वह ज्ञान संपन्न है, स्वयं की शारीरिक धारणा की माया से मुक्त है, और अंत में वह मृत्यु को भी परास्त कर देता है। यही सर्वोच्च प्रकार का दान है जो कोई अपने मानवी साथियों को दे सकता है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥१७-२३॥

वेदों में बताया गया है कि "ॐ तत् सत्" के तीन शब्द परम-सत्य को दर्शाते हैं। प्राचीन समय में, ब्राह्मण, वेद और यज्ञ की विधियां इन तीन शब्दों द्वारा उद्भव हुए थे।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥१७-२४॥

इसलिए, जो परम-सत्य की खोज करते हैं वे यज्ञ के आरंभ में सदैव ॐ शब्द का उच्चारण करते हैं, दान देते हैं, तपस्या करते हैं, एवं वेदों में निर्धारित अन्य कार्यों का भी निर्वहन करते हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥१७-२५॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले "तत्" शब्द के उच्चारण द्वारा, प्रतिफल भोगने की स्वार्थी इच्छा को त्याग करके, तरह तरह के यज्ञ, तपस्या, एवं दान-धर्म का पालन करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥१७-२६॥

'सत्' शब्द परम-सत्य के स्वभाव को एवं परम-सत्य की जिज्ञासा करने वाले साधुओं के स्वभाव को सूचित करता है। इसलिए, हे पार्थ, सभी सत्कार्यों के अंतर्गत 'सत्' शब्द का उच्चारण किया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥१७-२७॥

यज्ञ, तपस्या, एवं दान-कार्य के निर्वहन में स्थिरता को 'सत्' कहा जाता है। परमेश्वर के प्रति किए जानेवाले किसी भी कार्य को 'सत्' कहा जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥१७-२८॥

हे पार्थ, किसी भी यज्ञ, तपस्या, दान-धर्म या किसी भी क्रिया को यदि अश्रद्धापूर्वक किया जाए, तो वह 'असत्' (मिथ्या) कहलाता है। इस प्रकार के कार्य, इस जन्म में तो क्या अगले जनम में भी कोई मंगलदायक प्रतिफल उत्पन्न नहीं करते।

~ अनुवृत्ति ~

अपनी मनमानी से आचरण करने वालों को इस जन्म में तो क्या, अगले जन्म में भी सुख या सिद्धी प्राप्त नहीं होती। इसलिए हमें भगवद्गीता के आदेशों के अनुसार सभी तपस्या, यज्ञ एवं दान-कार्यों को सत्त्वगुण में करना चाहिए, क्योंकि रजोगुण और तमोगुण से व्यक्ति की चेतना कलुषित होती है।

यहां बताया गया है कि प्राचीन काल में वेदों के सभी कार्यों एवं व्यादेशों को, परम-सत्य परमपुरुष श्री कृष्ण को सूचित करने वाले 'ॐ तत् सत्' के शब्दों के उच्चारण सहित ही संपन्न किया जाता था। परन्तु कलियुग में इस पद्धति का अब प्रचलन नहीं रहा। इसके विपरीत, लोग मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य भूल चुके हैं, और शोचनीय ढंग से लक्ष्यहीन होकर अपना जीवन केवल खाने, मद्यपान करने, और मौज उड़ाने में व्यतीत कर रहे हैं।

श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में पहले ही कहा है कि जो कुछ एक महान व्यक्ति करते हैं, साधारण लोग भी वही करते हैं (यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः)। अत:, हम इस दुनिया के सभी भले पुरुष एवं महिलाओं से निवेदन करते हैं कि तुरंत भगवद्गीता का सन्देश का श्रवण करें और श्री कृष्ण को परम भगवान् मान लें। भगवद्गीता के ध्वज के तले दुनिया में इस तरह का आन्दोलन अवश्य मानवजाती के लिए सबसे सौभाग्यदायक एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा। इससे बेहतर भलाई कोई कर नहीं सकता, और इसे करने के लिए प्रस्तुत समय से बेहतर और कोई समय नहीं।

एकं शास्त्रं देवकी-पुत्र-गीतम् ।
एको देवो देवकी-पुत्र एव ॥
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि ।
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

भगवद्गीता ही सबसे आदर्श शास्त्र है, जिसे देवकी-पुत्र भगवान् श्री कृष्ण ने गाया था। श्री कृष्ण ही परम-सत्य हैं। जपने के लिए महामन्त्र ही सर्वोच्च मन्त्र है, और सभी का परम कर्तव्य है परम-पुरुष श्री कृष्ण की सेवा। (गीता-माहात्म्य ७)

**ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥**

ॐ तत् सत् – अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए श्रद्धात्रयविभाग योग नामक सत्रहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

अध्याय १८

मोक्ष योग

अर्जुन उवाच।
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१८-१॥

अर्जुन ने कहा - हे महाबाहो, हे हृषिकेश, हे केशव, मैं संन्यास और त्याग का वास्तविक अर्थ और साथ ही उनके बीच के अंतर को समझना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच ।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥१८-२॥

भगवान् श्री कृष्ण ने उत्तर दिया - जो बुद्धिमान होते हैं उन्हें यह अनुभूति (ज्ञान) होती है कि संन्यास का अर्थ है, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए किए जानेवाले कर्मों का त्याग करना। जबकि त्याग का तात्पर्य है सभी कर्मों का त्याग करना।

~ अनुवृत्ति ~

भगवद्गीता का अंतिम अध्याय संन्यास और त्याग के प्रश्न से शुरू होता है। श्री कृष्ण का कहना है कि संन्यास का अर्थ है किसी के द्वारा निजी लाभ के लिए किये जाने वाले कर्मों का त्याग करना और त्याग का अर्थ है सभी कर्मों का त्याग। जो संन्यास की अवस्था में होते हैं उन्हें संन्यासी कहा जाता है। संन्यासी होने का अर्थ है संपूर्ण सत्य, परम हित, श्रीकृष्ण के लिए कार्य करना। एक संन्यासी सभी प्रकार के कार्यों को करते हैं, लेकिन केवल भक्ति-योग में, श्री कृष्ण की सेवा में।

भक्ति-योग समुदाय की सामाजिक संरचना को चार आध्यात्मिक वर्गों में विभाजित किया गया है - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इन सभी को वैदिक साहित्य का अध्ययन करना होता है। इसके अतिरिक्त, उनके कर्तव्य निम्नानुसार हैं - ब्रह्मचारी वे छात्र हैं जिनका कर्तव्य आध्यात्मिक गुरु की सेवा और ब्रह्मचर्य का पालन करना है। गृहस्थ वे गृहस्वामी होते हैं जिनका कर्तव्य ईमानदारी से जीवनयापन करने के लिए धन कमाना, दान देना और बच्चों की परवरिश करना होता है। वानप्रस्थ वे हैं, जिन्होंने गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा कर लिया है और जिनके कर्तव्य हैं अपने धन-सम्पत्ति का त्याग करना, तीर्थ यात्रा करना और वैराग्य की ओर अग्रसर होना। भक्ति-योग समुदाय में संन्यासी आध्यात्मिक गुरु होते हैं और वे ब्रह्मचारियों, गृहस्थों और

वानप्रस्थों को शिक्षा प्रदान करते हैं, सांसारिक सुख का त्याग करते है, राजनीति से विरक्त होते हैं, एवं सदैव काया, मन, वचन, तथा अपनी आत्मा के संपूर्ण समर्पण से भक्ति-योग में लीन होते हैं। आगे के श्लोकों में संन्यास और त्याग पर और भी व्याख्या की गई है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥१८-३॥

कुछ विद्वानों का दावा है कि सभी कर्मों को त्याग देना चाहिए क्योंकि वे स्वाभाविक रूप से ही दोष-युक्त होते हैं। दूसरों का कहना है कि यज्ञ, दान और तपस्या जैसे कर्मों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥१८-४॥

हे भरत वंश के श्रेष्ठ, हे पुरुषव्याघ्र, तीन प्रकार के त्याग के विषय पर मेरा निष्कर्ष सुनो।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१८-५॥

तीन प्रकार के त्याग - यज्ञ, दान और तपस्या को कभी भी छोड़ना नहीं चाहिए। यज्ञ, दान और तपस्या मनीषियों को भी शुद्ध करती हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥१८-६॥

फिर भी, हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की इच्छा के बिना ही किया जाना चाहिए। इस विषय पर निःसन्देह यही मेरा अंतिम निर्णय है।

~ अनुवृत्ति ~

भारत में दार्शनिकों और आध्यात्मिक साधकों का एक वर्ग है जिनका मानना है कि यह संसार मिथ्या है, इसलिए यदि कोई मानव जीवन में पूर्णता (सिद्धि) प्राप्त करना चाहता है तो उसे सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर देना चाहिए - लेकिन भगवद्गीता में श्री कृष्ण का निष्कर्ष यह नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि

व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करना चाहिए और त्याग, दान और तपस्या जैसे लाभकारी कार्यों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि वे मनीषियों की भी शुद्धीकरण करते हैं।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥१८-७॥

किसी के लिए भी अपने निर्धारित कर्तव्यों का त्याग करना अनुचित है। मोह के कारण अपने कर्तव्यों का त्याग करना तमोगुण की स्तिथि कहलाती है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥१८-८॥

जो लोग निर्धारित कर्तव्यों को इसलिए त्याग देते हैं कि वे कठिन हैं, या इस डर से कि वे शारीरिक रूप से अत्याधिक मेहनत के कार्य हैं, ऐसे लोग रजोगुण की स्तिथि के त्याग में संलग्न हैं। ऐसे लोग सच्ची विरक्ति का लाभ कभी प्राप्त नहीं करते।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥१८-९॥

हे अर्जुन, जब निर्धारित कर्मों को प्रतिफल की इच्छा का त्याग करके, केवल कर्तव्य समझ कर निभाया जाता है, तो ऐसे त्याग को सत्त्वगुण में माना जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१८-१०॥

बुद्धिमान त्यागी, जो सत्त्वगुण की स्तिथि में तल्लीन रहता है, जिसने अपनी सभी शंकाओं को निरस्त कर दिया है, ना तो वह कठिन कर्तव्यों को नापसंद करता है और न ही सुखद कर्तव्यों से लगाव रखता है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥१८-११॥

देहबद्ध जीवों के लिए अपने सभी कर्मों का त्याग करना असंभव है। जबकी, जो अपने कर्मों के फलों की इच्छा का त्याग करते हैं वे सच्चे त्यागी कहलाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

यदि कोई भ्रम के कारण अपने कर्मों को छोड़ देता है की वे कठिन हैं, शारीरिक रूप से कष्टदायक हैं, या अपने आलस्य के कारण, तो ऐसा त्याग मिथ्या है और यह तमोगुण या रजोगुण में माना जाता है। देहबद्ध जीव कभी भी कर्मों का त्याग नहीं कर सकते। प्राचीन काल के साथ हमारे समय में भी ऐसे कई उदहारण हैं, जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया और इस दुनिया से बचने के लिए हिमालय या रेगिस्तान चले गए, लेकिन अपनी विषयासक्ति के कारण या परोपकारी कार्य करने के लिए फिर से सांसारिक जीवन जीने के लिए लौट अ जब कोई अपने कर्मों के फलों की आसक्ति को त्याग देता है और एक विरक्त हृदय के साथ कर्म करता है - यह स्मरण करते हुए की श्री कृष्ण ही एकमात्र आनंद के भोक्ता हैं, और हर चीज के मालिक हैं - तो ऐसा व्यक्ति सच्चा त्यागी या संन्यासी होता है। अतएव, एक त्यागी का या संन्यासी का त्याग, एक ही होता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१८-१२॥

जो लोग त्याग को स्वीकार नहीं करते हैं वे मृत्यु के बाद तीन प्रकार के फल को प्राप्त करते हैं - अच्छे, बुरे और मिश्रित। परन्तु सच्चे संन्यासी ऐसे परिणाम कभी नहीं पाते।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१८-१३॥

हे माहाबाहो अर्जुन, वेदान्त में वर्णित सभी कार्यों को पूरा करने वाले पाँच कारकों को मुझसे सीखो।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१८-१४॥

आधार (शरीर), क्रियाओं का कर्ता (मिथ्या अहंकार), साधन (इन्द्रियाँ), विभिन्न प्रकार के प्रयास, और परम पुरुष - ये पाँच कारक हैं जो सभी कर्मों को सम्पन्न करते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१८-१५॥

ये पाँच कारक, अच्छे और बुरे दोनों ही कर्मों के स्रोत हैं, जिनका देहबद्ध जीव इस संसार में अनुभव करते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१८-१६॥

फिर भी, एक मूर्ख व्यक्ति जो केवल स्वयं को ही कर्ता मानता है, वह अल्प बुद्धि के कारण इस विषय को नहीं समझ सकता।

यस्य नाहङ्कतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमॉल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१८-१७॥

जो मिथ्या अहंकार से रहित है और जिनका मन विरक्त है - वे भले ही इस युद्ध के मैदान पर सभी का संहार कर दे, तब भी वास्तव में वे संहारक नहीं होंगे और वे अपने कर्मों के बंधन में नहीं बंधते।

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन एक क्षत्रिय हैं, एक योद्धा हैं, और वे दो महान सेनाओं के बीच कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में श्री कृष्ण के साथ खड़े हैं। दोनों ओर मित्रों और संबंधियों को देखकर, अर्जुन ने शुरू में युद्ध न करने का संकल्प किया, और अपने शस्त्रों को छोड़ कर अपने कर्तव्यों को त्याग देने का निर्णय लिया। यहां भगवान् श्री कृष्ण हमारा ध्यान युद्ध के मैदान में वापस लाते हैं, जब वे यह कहते हैं, हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते - जो इस युद्ध में वध करते हैं वास्तव में वे न मारते हैं और न ही वे कर्मों के बंधन में बंधते हैं।

यदि अर्जुन एक योद्धा के रूप में अपने कर्तव्य को छोड़ देतो हैं, तो निश्चित रूप से अपने कर्तव्य से पलायन करने के करण, वे अपनी कर्मों की प्रतिक्रिया का पात्र होंगे। जबकि वास्तव में अर्जुन किसी की भी “हत्या”(वध) नहीं कर सकते क्योंकि युद्ध के लिए पहले से व्यूहों में तैयार जीवित प्राणी, परम पुरष भगवान् के शाश्वत अंश हैं और इस तरह वे नित्य हैं। आत्मा को कभी भी मारा नहीं जा सकता। अंततः, अर्जुन अपने कर्तव्यों का निर्वाह करके अपने कर्मों की किसी भी प्रतिक्रिया का पात्र नहीं बन सकते।

यदि कोई अपने निर्धारित कर्तव्यों को टाल जाता है और उन्हें भय, मोह आदि के कारण छोड़ देता है, तो वह कर्मों की प्रतिक्रिया को अपने पर आमंत्रित करता है और इस जीवन में या अगले जीवन में उसे दुःख भुगतना पड़ता है। इसलिए, कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन अपने हृदय की कमजोरियों से ऊपर उठे और अपना कर्तव्य निभाएं।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥१८-१८॥

ज्ञान, ज्ञान का उद्देश्य और ज्ञाता, ये तीन तत्त्व हैं जो कर्म करने के लिए उत्तेजित करते हैं। इंद्रियाँ, कर्म और कर्ता - ये कर्मों के तीन संघटक हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१८-१९॥

सांख्य ग्रंथों के अनुसार, ज्ञान, कर्म और कर्म के कर्ता को प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन तरह से वर्गीकृत किया गया हैं। अब तुम उनके बारे में सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥१८-२०॥

वह ज्ञान जिससे अनन्त रूपों में विभक्त सारे जीवों में एक अविभक्त अविनाशी तत्त्व देखा जाता है, उस ज्ञान को सात्विक समझा जाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥१८-२१॥

जबकि, वह ज्ञान जिसके द्वारा विभिन्न शरीरो में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों को देखा जाता है, उसे राजसिक ज्ञान कहा जाता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥१८-२२॥

और वह ज्ञान जिसके द्वारा व्यक्ति एक ही प्रकार के कार्य में आसक्ति रखता है, जिसमें कोई सत्य नहीं होता और जो तुच्छ लक्ष्य पर आधारित होता है, उस ज्ञान को तामसिक समझा जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

जैसा कि पहले समझाया गया है, ज्ञान का अर्थ है - पदार्थ और चेतना के बीच के अंतर को समझना। जिनका ज्ञान शुद्ध और दोषरहित है, वे व्यक्तिगत चेतना (आत्मा) को अविभक्त परम चेतना के अनन्य अंश के रूप में देखते हैं, जो सभी जीवों में उपस्थित हैं, और जन्म जन्मांतर से एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानांतरण करते हैं। दूसरे शब्दों में, एक जीवन में हाथी या बाघ के शरीर में उपस्थित आत्मा अगले जीवन में एक मनुष्य के शरीर में हो सकती है। मनुष्य की आत्मा से विभिन्न प्रकार की कोई हाथी, बाघ, या किसी पशु की आत्मा नहीं होती। जो यह कहता है कि एक पशु या एक मानव या एक देवता की आत्मा भिन्न प्रकार की होती है, उसका ज्ञान रजोगुण से प्रभावित होता है।

जिस व्यक्ति को आत्मा की कोई समझ नहीं है, जिसे अपने शरीर से लगाव है, शरीर की क्रियाओं से लगाव है, जो आर्थिक विकास या विषय वस्तु के भोग हेतु तुच्छ कार्यों में लिप्त रहता है, उसके ज्ञान को तमोगुण में कहा जाता है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१८-२३॥

आसक्ति एवं द्वेष से रहित, फल की इच्छा किए बिना विनियमित कर्मों को सत्त्वगुण में कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥१८-२४॥

अहमभाव से, लाभ की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले अथक परिश्रम के कार्यों को रजोगुण में कहा जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥१८-२५॥

परिणाम, नुकसान, क्षति, या व्यक्तिगत क्षमता पर विचार किए बिना, मोह के कारण किए जानेवाले कार्यों को तमोगुण में कहा जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१८-२६॥

जो मनुष्य आसक्ति एवं अहंभाव से रहित होकर कार्य करते हैं, जो सहनशील, उत्साहपूर्ण, और लाभ या नुकसान से अप्रभावित हैं, उन्हें सात्त्विक माना जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥१८-२७॥

जो मनुष्य अपने कर्मों के परिणामों का आनंद लेने के लिए कार्य करने की इच्छा रखते हैं, लालची होते हैं, स्वभाव से हिंसक होते हैं, सुख एवं दुःख से प्रभावित होते हैं, उन्हें राजसिक माना जाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥१८-२८॥

जो मनुष्य अपने कर्मों को अनुशासनहीन तरीके से करते हैं, जो अशिष्ट, जिद्दी, बेईमान, अपमानजनक, आलसी, बुरे स्वभाव वाले और शिथिलक होते हैं, उन्हें तामसिक माना जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्मों का वर्णन किया गया है। आज जब कोई कर्मों के गुणों को और उनकी विभिन्न विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इस संसार को देखता है, तो कोई आश्चर्य नहीं होता कि आज पृथ्वी पर युद्ध, महँगाई, निराशा, आर्थिक मंदी, भ्रम और नकारातमक स्थिति है।

जब लोग अपने अत्याधिक अहमभाव का प्रयोग करने में व्यस्त हैं, और अपने साथी मनुष्यों और पशुओं के प्रति अनैतिक और हिंसक रूप से बर्ताव करते हैं, तो हम इस संसार में कैसे किसी सुधार की उम्मीद कर सकते हैं? शांति कैसे प्राप्त हो सकती है?

इसलिए, सभी समझदार व्यक्ति का यह कर्तव्य बनता है की वह सात्विक भाव में ज्ञान का अर्जन एवं कर्म करे जो आसक्ति रहित हो, द्वेष मुक्त हो और जो कामना एवं अहमभाव से मुक्त हो। जीवन एक विज्ञान है और श्री कृष्ण कहते हैं कि हम अपने कार्यों के माध्यम से अपने अच्छे या बुरे कर्मों के फलों को भुगतते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥१८-२९॥

हे धनंजय, ध्यान से सुनों, अब मैं तुम्हें प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार विभिन्न मनोवृत्तियां एवं संकल्पों की व्याख्या देता हूँ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥१८-३०॥

हे पार्थ, सत्त्वगुण में मनोवृत्ति ऐसी है जो यह भेद् कर सके कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, क्या कर्तव्य है और क्या नहीं, किसका भय करना चाहिये और किसका नहीं, एवं भौतिक बंधन तथा मुक्ति के स्वभाव में अंतर क्या है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥१८-३१॥

हे पार्थ, राजसिक प्रवृत्ति वह है जिसमें मनुष्य धर्म और अधर्म के बीच भेद् नहीं कर सकता है, उचित और अनुचित के अंतर को नहीं समझ सकता, और यह तय नहीं कर पाता की उसका कर्तव्य क्या है और क्या उसका कर्तव्य नहीं है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थाविपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥१८-३२॥

हे पार्थ, तामसिक मनोवृत्ति वह है जिसमें मनुष्य अधर्म को धर्म मानता है एवं धर्म को अधर्म मानता है। वह सब कुछ यथार्थ के विपरीत समझता है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥१८-३३॥

हे पार्थ, वह संकल्प, जिसके द्वारा मनुष्य सख्ती से मन, प्राण-वायु और इंद्रियों को योग की प्रक्रिया के माध्यम से नियंत्रित करता है वह सात्त्विक भाव में होता है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥१८-३४॥

हे पार्थ, वह संकल्प जिसमें व्यक्ति धन अर्जित करने और भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए धर्मनिष्ठता बनाए रखता है, वह राजसिक भाव में होता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥१८-३५॥

हे पार्थ, उन लोगों के संकल्प जो नींद, भय, शोक, विषाद और अभिमान को नियंत्रित नहीं कर सकते वे तामसिक भाव में होते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

सर्वत्र, भगवद्गीता के दौरान, श्री कृष्ण अर्जुन को पार्थ (कुंती के पुत्र) कहकर संबोधित करते हैं। कृष्ण ने उन्हें भारत (भरत वंशज), पांडव (पांडु के पुत्र), कुरुनंदन (कुरु वंशज), परंतप (शत्रु विजयी), गुडाकेश (निद्रा विजयी) और धनंजय (धन के विजेता) कहकर भी संबोधित किया। कृष्ण अर्जुन को इस तरह संबोधित इसलिए करते हैं ताकि उन्हें स्मरण हो कि वे एक क्षत्रिय वंश के महान योद्धा हैं, और इस तरह वे खड़े होकर युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित हो।

कभी-कभी युद्ध आवश्यक हो सकता है जब युद्ध का कारण उचित हो, लेकिन समस्या इसी में है, कि कौन यह कह सकता है कि कौन सा कारण उचित है, कौन सही है और कौन गलत है, क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? उपरोक्त छंदों में, कृष्ण कुछ संकेत देते हैं कि कौन सी मनोवृति एवं संकल्प उचित है। स्पष्ट रूप से, जो रजोगुण और तमोगुण में होते हैं वे सदा भूल में रहते हैं - वे अंतर नहीं कर पाते कि क्या सही है और क्या गलत है, क्या करना है और क्या नहीं करना है, या क्या उचित कर्तव्य है और क्या कर्तव्य की उपेक्षा है।

सुखं त्विदानी त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥१८-३६॥
यत्तदने विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥१८-३७॥

हे भरत वंश के सर्वश्रेष्ठ, अब मुझसे तीन प्रकार के सुख के बारे में जानो। वह सुख जिसके द्वारा सभी दुखों का अंत होता है सत्त्वगुण में हैं। ऐसा सुख आरंभ में विष के समान होता है, परन्तु अंत में वह अमृत के समान होता है क्योंकि वह व्यक्ति में आत्म साक्षात्कार जागृत करता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १८-३८ ॥

वह सुख जो इंद्रियों और विषय-वस्तुओं के बीच के संपर्क से उत्पन्न होता है, जो आरंभ में अमृत की तरह होता है, लेकिन अंत में विष बन जाता है, ऐसे सुख को रजोगुण में कहा जाता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८-३९ ॥

वह सुख जो नींद, आलस्य और भ्रम से उत्पन्न होता है और आरंभ व अंत दोनों में ही आत्मा-भ्रामक होता है, वह सुख तमोगुण में होता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ १८-४० ॥

पृथ्वी पर या देवताओं में भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो भौतिक प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त है।

~ अनुवृत्ति ~

इस भौतिक संसार में सब लोग और सब कुछ भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अधीन होते हैं। सही मायने में कोई व्यक्ति तब तक स्वतंत्र या आज़ाद नहीं है जब तक वह भौतिक प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त न हो। राजनीतिक स्वतंत्रता के नाम पर ऐसे सभी उत्सव केवल आत्मवंचना का एक और रूप हैं। आज़ादी का सवाल ही कहाँ है जब हमारी हर क्रिया प्रकृति द्वारा नियंत्रित होती है और हमें जीवन के उस पथ पर धकेल दिया जाता है जहां अंत में केवल मृत्यु का सामना करना पड़ता है?

भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से केवल उन्हीं को स्वतंत्रता प्राप्त होती है जिन्होंने एक सच्चे गुरू (सद्गुरु) का आश्रय लिया है, जिन्होंने भगवद्गीता के ज्ञान को समझा है और स्वयं को भक्ति-योग में प्रयुक्त किया है। वास्तव में केवल भक्ति-योगी ही स्वतंत्रता या आज़ादी की खुशी मना सकते हैं।

श्री कृष्ण कहते हैं कि सत्तवगुण में सुख शुरू में कड़वा होता है, लेकिन अंत में अमृत के समान होता है। इसका यह अर्थ है की नये साधकों के लिए शुरुआत

में इंद्रियों को नियंत्रित करना और तपस्या करना अरुचिकर हो सकता है, लेकिन अंत में ऐसी तपस्याएं आत्म साक्षात्कार के अमृत की ओर ले जाती हैं।

रजोगुण में इंद्रियों के भोग से प्राप्त होने वाला सुख शुरुआत में अमृत की तरह हो सकता है, लेकिन अंत में यह कड़वा होता है, क्योंकि इंद्रियों का भोग अंततः निराशा, घृणा और क्रोध में समाप्त होता है। तमोगुण में प्राप्त होने वाला सुख जो नींद, आलस्य और भ्रम से उत्पन्न होता वह आत्मवंचना है, क्योंकि यह शुरुआत में और अंत दोनों में ही दुःखदायी होता है।

मनुष्य को वास्तविक आनंद केवल तब मिलता है जब उसे अपने नित्य स्वरूप की जागरूकता प्राप्त होती है, और वह अपने शरीर, मन एवं इन्द्रियों को उच्च चेतना में तल्लीन करके जीवन यापन करता है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥१८-४१॥

हे शत्रु विजयी, हे अर्जुन, जानो कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को भौतिक प्रकृति के तीन गुणों में उनके कर्मों के लक्षणों के अनुसार वर्गीकृत किया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१८-४२॥

शांति, आत्म-नियंत्रण, तपस्या, स्वच्छता, दयाशीलता, सत्यता, ज्ञान, प्रज्ञता और भगवान् में श्रद्धा - ये सब एक ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥१८-४३॥

वीरता, तेज, दृढ़ता, निपुणता, युद्ध से कभी पलायन न करना, दान देना और सामाजिक प्रशासन - ये एक क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥१८-४४॥

खेती, गौ-रक्षा और व्यवसाय एक वैश्या के स्वाभाविक कर्म हैं। तथा अन्य वर्गों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की सामाजिक स्थिति उनके कर्मों के गुणों के अनुसार वर्णित है। ये जीवन की चार सामाजिक व्यवस्थाएं हैं और ये संसार की सभी सभ्य संस्कृतियों में उपस्थित हैं। हर जगह हमें वे लोग मिलते हैं जो बुद्धिजीवी वर्ग - ब्राह्मणों के सदृश हैं। हर जगह वे मिलते हैं जो क्षत्रियों यानि प्रशासकों और योद्धाओं के सदृश हैं, हर जगह हमें व्यापारी और श्रमिक वर्ग, वैश्य और शूद्र भी मिलते हैं। यह समाज का स्वाभाविक विभाजन हैं और यह उनके कर्मों के लक्षणों से निर्धारित होते हैं।

दुर्भाग्यवश, आधुनिक भारत में, श्रीकृष्ण द्वारा भगवद्गीता में वर्णित यह सामाजिक प्रणाली भ्रष्ट हो चूकी है और अब यह जाति व्यवस्था के रूप में जानी जाती है जो जन्म के आधार पर एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करती है। जाति-व्यवस्था दरअसल भगवद्गीता में वर्णित सामाजिक व्यवस्था नहीं है जिसे वर्णाश्रम-धर्म के नाम से जाना जाता है।

भारत में जाति व्यवस्था निश्चित रूप से शोचनीय है, यह लगभग गुलामी ही है, क्योंकि यह व्यक्ति की क्षमता को उसके जन्म के आधार पर सीमित कर देती है। भगवान् श्री कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि एक व्यक्ति को उसके कर्मों से जानना चाहिए न की उसके वंश से।

यद्यपि दुनिया भर में बुद्धिजीवी, प्रशासक, व्यापारी और श्रमिक वर्ग वाले सामाजिक पद्धति पाई जाती हैं, लेकिन वे फिर भी भगवद्गीता में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था के समान नहीं हैं। एक बुद्धिजीवी होने के अलावा, एक ब्राह्मण को यह पता होना चाहिए कि ब्रह्मन (ब्रहम-ज्योति) क्या होता है।

एक क्षत्रिय के केवल प्रशासन और युद्ध के अलावा अन्य कर्तव्य भी होते हैं - उसे भ्रष्टता से ऊपर होना चाहिए, लोगों को सुरक्षा देनी चाहिए और भगवद्गीता में पाए गए धर्म के सिद्धांतों की रक्षा करनी चाहिए। और सबसे बढ़कर, एक क्षत्रिय को कभी भी आक्रामक नहीं होना चाहिए - उसे कभी भी एक संप्रभु देश पर आक्रमण नहीं करना चाहिए।

वैश्य का कर्तव्य, व्यवसाय के अलावा, खेती और गौ-रक्षा है। स्वाभाविक रूप से व्यापार का उद्देश्य जीविका के लिए उपार्जन करना है, लेकिन आज यह

भगवद्गीता की सलाह के अनुसार वास्तविक आवश्यकता से बहुत आगे निकल चुकी है। सरल व्यवसाय बड़े पैमाने पर उद्योग में बदल गई है - वृहद् बहु-राष्ट्रीय कंपनियों की स्थापना, धन की जमाखोरी और आंशिक बैंकिंग (Fractional Banking)। यह सब आज दुनिया भर में सरकारी अधिकारियों को भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है और अंततः इसके द्वारा पर्यावरण का विनाश, गरीबी में वृद्धि और युद्ध होते हैं।

गौ-रक्षा (कृषि-गोरक्ष्या) का उल्लेख विशेष रूप से श्लोक ४४ में किया गया है क्योंकि सभी पशुओं में से गाय ही है जो मनुष्य के अस्तित्व के लिए सबसे आवश्यक पशु है। मानव शरीर पशु के वसा पर फलता-फूलता है और गाय वह पशु है जो मनुष्य को सबसे अधिक दूध, दही, मक्खन, पनीर इत्यादि प्रदान करती है। दूध और दूध के उत्पाद, जब उपयुक्त मात्रा में लिए जाते हैं, तो यह मनुष्य के स्वस्थ जीवन के लिए सभी आवश्यक वसा प्रदान करते हैं, इस प्रकार पशु-वध रोका जाता है। दूसरे शब्दों में, पशुओ को मारना और वसा प्राप्त करने के लिए उनका मांस खाना आवश्यक नहीं है। जब गायों की रक्षा होती है, तब सभी के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वस्थ आहार के लिए दूध उपलब्ध होता है। मानव समाज के लिए गाय का मूल्य निर्विवाद है और इसलिए वैदिक संस्कृति में गाय को सात प्राकृतिक माताओं में से एक माना जाता है। ये सात माताएँ इस प्रकार हैं:

आत्म-माता गुरो:पत्नि ब्राह्मणी राज-पत्निका ।
धेनुर्धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः ॥

अपनी माता, गुरु की पत्नी, एक ब्राह्मण की पत्नी, राजा की पत्नी, गाय, धात्री और पृथ्वी - इन सातों को हमारी माताएं मानी जानी चाहिए। (चाणक्य नीति-शास्त्र ५.२३)

दुर्भाग्यवश, व्यवसाय समुदाय के लोग, स्वास्थ्य और समृद्धि के नाम आज कॉर्पोरेट खेती और गायों एवं अन्य पशुओं के सामूहिक-वध के व्यवसाय में लग गए हैं। वास्तव में, लोगों ने अपनी भूमि खो दी है और परिवार के खेत जो कभी समाजों की रीढ़ होती थी, आज कही भी उपस्थित नहीं हैं। औद्योगिक खेती ने जैविक उर्वरकों को रासायनिक उर्वरकों के साथ बदल दिया है, जो मिट्टी को बेजान बनाते हैं और ऐसे आहार का उत्पादन करते हैं जो पौष्टिकता में कम

और विषाक्त सामग्री में उच्च होते हैं। वधशाला से निकला मांस भी विषाक्त होता है एवं शाकाहारी भोजन की तुलना में बहुत कम स्वस्थ होता है।

दुनिया भर में समाज, वैश्यों के लौटने के लिए रो रहे हैं, लेकिन सरकारें बहरों और अंधों की तरह कान और आँख मूंदकर बैठे हैं, और खाद्य श्रृंखला के सबसे आखिर में आनेवाले शूद्र, मजदूर वर्ग इस परिस्थिति से सबसे ज्यादा पीड़ित हैं। परन्तु, परिवर्तन दूर नहीं, क्योंकि दुनिया भर में लोग अब अपने इस बुरे सपने से जाग रहे हैं जो उनकी असलीयत बन चुकी है, और अब वे इन समस्याओं के उचित समाधानों को खोज रहे हैं। ऐसे ईमानदार व्यक्तियों के लिए, भगवद्गीता अंतर्दृष्टि और मार्गदर्शन प्रदान करता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥१८-४५॥

अब मुझसे उनके बारे में जानो, जो अपने निर्धारित कर्मों का पालन करते हैं वे कैसे परम सिद्धि प्राप्त करते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥१८-४६॥

मनुष्य अपने निर्धारित कर्मों का पालन करते हुए, उस परमेश्वर की उपासना से परम सिद्धि प्राप्त करते हैं, जिनसे सभी चीजें उत्पन्न होती हैं और जो सर्वभूत हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८-४७॥

किसी दूसरे के कर्तव्यों (धर्मों) को पूर्ण रूप में निभाने से बेहतर है की स्वयं के कर्तव्यों को अपूर्ण रूप से ही निभाया जाए। जब व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार अपने निर्धारित कर्मों को करता है तब वह पाप का दोषी नहीं होता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥१८-४८॥

हे कुंतीपुत्र, अपने निर्धारित कर्मों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए। सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवरित रहते हैं जैसे कि अग्नि धुंए से आवरित होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥१८-४९॥

भौतिक वस्तुओं में अनासक्ति, भौतिक सुखों की अवहेलना, अपने निर्धारित कर्मों को करना एवं इसके फलों की चिंता से मुक्त रहने से संन्यास की उत्तम अवस्था प्राप्त होती है.

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त श्लोकों में, श्री कृष्ण अर्जुन से इस बात पर बल देते हैं कि किसी को भी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने निर्धारित कर्मों (धर्मों) को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। कोई ऐसे सोच सकता है कि वह अपने कर्मों को पूरी तरह से नहीं निभा रहा, लेकिन कृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति को अपने कर्मों पर दृढ़ रहना चाहिए और उसका त्याग नहीं करना चाहिए। भगवद्गीता के शुरुआत में, अर्जुन ने अपने क्षत्रिय धर्म को छोड़ने की इच्छा व्यक्त की। अर्जुन युद्ध करने से विमुख हो गया और सोच रहा था कि बेहतर होगा की वह हल चलाये (खेती करे) या संन्यासी बन जाये, लेकिन कृष्ण इससे सहमत नहीं थे। अब श्री कृष्ण और अर्जुन के बीच बातचीत समाप्त हो रही है, और हम जल्द ही देखेंगे कि कृष्ण ने अर्जुन को सजीव कर दिया है और अब अर्जुन पूर्ण ह्रदय और उत्साह के साथ अपने कर्तव्य को फिर आरंभ करेंगे।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥१८-५०॥

हे कुंतीपुत्र, मुझसे यह जानो कि, उस तरह के आचरण से, जिसे मैं तुम्हें संक्षेप मे वर्णन करने वाला हूँ, व्यक्ति कैसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥१८-५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥१८-५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१८-५३॥

शुद्ध बुद्धिमत्ता के साथ, मन को दृढ़ निश्चय से सयंमित रखना, इंद्रिय-वस्तुओं के प्रति आसक्ति को त्यागना, आसक्ति और घृणा दोनों से रहित होना, एकांत स्थान पर रहना, अल्प भोजन करना, वाणी, शरीर और मन को वश में रखना, भगवान् के निरंतर ध्यान में संलग्न रहना, वैराग्य, अहंकार, शक्ति के दुरुपयोग, दंभ, वासना, क्रोध, लोभ से मुक्त और निःस्वार्थ एवं शांतिपूर्ण होना - ऐसा व्यक्ति परम सिद्धि की प्राप्ति के योग्य है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८-५४॥

जब ऐसे आत्म-संतुष्ट व्यक्ति को पूर्ण सत्य की अनुभूति होती है, तब वह न आनन्दित होता है न विलाप करता है। सभी प्राणियों को समान भाव से देखते हुए वह मेरे प्रति पारलौकिक भक्ति को प्राप्त कर लेता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८-५५॥

ऐसी भक्ति के माध्यम से वह व्यक्ति सत्य रूप में मुझे जानता है। इस प्रकार, मुझे सत्य रूप में जानकर वह मेरे परम धाम में प्रवेश करता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १८-५६ ॥

हालाँकि व्यक्ति विभिन्न कर्मों में लगातार संलग्न रह सकता है, फिर भी मेरी कृपा से, जो मेरा आश्रय लेता है, वह मेरे शाश्वत निवास पहुँच जाता हैं।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ १८-५७॥

सचेत रूप से अपने सभी कर्मों को मेरे प्रति अर्पण करते हुए, मुझे अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानते हुए, और भक्ति-योग (बुद्धि-योग) का आश्रय लेते हुए, सदैव मेरा मनन करो।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ १८-५८॥

यदि तुम मेरा चिन्तन करते हो तो मेरी कृपा से तुम्हारे सारे कष्ट दूर हो जाएंगे। लेकिन, अपने झूठे अहंकार से यदि तुम मुझे अनदेखा करते हो, तो तुम्हारा नाश हो जायेगा।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥१८-५९॥

यदि झूठे अहंकार के कारण तुम यह सोचते हो , "मैं युद्ध नहीं करूंगा," तो तुम्हारा निर्णय व्यर्थ होगा क्योंकि तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हे युद्ध करने पर विवश करेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१८-६०॥

अपने आन्तरिक स्वभाव से बंधे होने के कारण, तुम जिन कर्तव्यों को करने से मना कर रहे , हे कुंतीपुत्र, वे अनिवार्य रूप से तुम्हारे द्वारा ही किए जाएंगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८-६१॥

हे अर्जुन, परमेश्वर सभी के हृदयों में निवास करते हैं। अपनी मायावी शक्ति द्वारा उनके सभी कार्यों को वे (परमेश्वर) ही निर्देशित करते हैं, जैसे कि उन्हें कोई मशीन (यंत्र) पर लगाया गया हो।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८-६२॥

हे भारत, अपने पूर्ण हृदय से उनमें शरण लो, और उनकी कृपा से तुम शाश्वत शांति एवं उनका सर्वोच्च निवास प्राप्त करोगे।

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण अब अर्जुन से यह कहते हुए प्रोत्साहित करते हैं कि उनके निर्देशों का पालन करने से अर्जुन को परम-सत्य साकार होगा और वह उनके परम धाम में प्रवेश करेगा। अपने सभी कर्मों के परिणामों को सचेत रूप से श्री कृष्ण पर

अपर्ण कर, स्वयं को श्री कृष्ण पर समर्पित कर, और सदैव श्री कृष्ण का मनन करते हुए, अर्जुन सर्व सिद्धि प्राप्त करेंगे।

दूसरा विकल्प, कृष्ण कहते हैं, कि उनके निर्देशों की उपेक्षा करके, निश्चित रूप से अर्जुन का नाश होगा। यह भगवद्गीता का खुला रहस्य है - जो इसके ज्ञान (संदेश) का पालन करता है, वह सभी भौतिक दोषों से मुक्त हो जाता है और परम पुरुष श्री कृष्ण द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है, यानि की वह पूर्ण ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। कृष्ण के निर्देशों की अवहेलना करना आत्महत्या के समान है और कृष्ण अर्जुन को चेतावनी देते हैं कि यदि वह यह मार्ग अपनाता है तो वह निश्चित रूप से भ्रम, माया और मृत्यु की दुनिया में नष्ट हो जाएगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८-६३॥

मैंने अब तुम्हारे सामने उस ज्ञान को उजागर किया है जो सबसे गोपनीय है। अब तुम इस पर सोच विचार कर जो तुम्हे उचित लगे वह करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८-६४॥

एक बार फिर से यह सबसे गूढ रहस्य को सुनो, मेरे सर्वोच्च निर्देश को सुनो। क्योंकि तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे परम हित के लिए तुम्हें यह बता रहा हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८-६५॥

अपने मन को मुझमें स्तिथ करो, स्वयं को मुझ पर समर्पित करो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें इसका वचन देता हूँ क्योंकि तुम मुझे बहुत प्रिय हो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८-६६॥

सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग कर दो - अपने आप को केवल मुझ पर समर्पित करो! डरो मत, क्योंकि निश्चित रूप से मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूंगा।

~ अनुवृत्ति ~

श्लोक ६३ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन्होंने अर्जुन को सबसे गोपनीय ज्ञान बताया है और वे अर्जुन को उस पर विचार कर अपनी इच्छानुसार करने लिए कहते हैं। लेकिन, क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण को अत्यंत प्रिय है और क्योंकि श्रीकृष्ण अर्जुन के गुरु और शुभचिंतक हैं, श्रीकृष्ण फिर से उन्हें एक अंतिम निर्देश और आश्वासन देते हैं।

श्री कृष्ण का अर्जुन के लिए अंतिम निर्देश यह है कि वह अपने मन को उन पर स्तिथ करे, स्वयं को उन पर समर्पित करे, उनकी पूजा करे एवं उनको सादर नमस्कार करे। यही कृष्ण भावनामृत (भक्ति) का सार है। कृष्ण कहते हैं कि ऐसा करने से अर्जुन निश्चित रूप से उनके पास पहुंचेंगे। अत: सर्वोपरि निर्देश यही है की सदैव कृष्ण का मनन करना चाहिए। पद्म-पुराण में भी यही कहा गया है -

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥

श्रीकृष्ण (विष्णु) को सदा याद करना चाहिए और कभी भी उन्हें भूलना नहीं चाहिए। शास्त्र में वर्णित सभी विधी-निषेध, इन्हीं दो सिद्धांतों के अधीन होने चाहिए। (पद्म-पुराण ६.११.१००)

श्लोक ६६ में हम भगवद्गीता के चरमोत्कर्ष को देखते हैं, जिसमें कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण करने का परम धर्म बताया गया है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उनके निर्देशों का पालन करने के लिए सबकुछ छोड़ देना चाहिए और इसमें भय का कोई कारण नहीं होना चाहिए क्योंकि कृष्ण उनकी रक्षा करेंगे। इस तरह के आत्म-समर्पण से अर्जुन कृष्ण के परम धाम को प्राप्त करेंगे।

भगवान् का परम धाम भौतिक ब्रह्मांड से परे है और जो प्रज्ञ हैं वे उसे वैकुण्ठ के नाम से जानते हैं। जो लोग विष्णु के अवतारों को या नारायण के रूपों की पूजा करते हैं, वे वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करते हैं। लेकिन वैकुण्ठ से ज्यादा श्रेष्ठ हैं कृष्ण

के अवतारों के क्षेत्र जैसे कि अयोध्या में श्री रामचंद्र और द्वारका में वासुदेव कृष्ण का धाम। जो लोग श्री रामचंद्र एवं कृष्ण के विस्तारक रूप में वासुदेव की उपासना करते हैं, वे क्रमशः अयोध्या, द्वारका और मथुरा प्राप्त करते हैं।

द्वारका से उच्चतर मथुरा है। मथुरा से श्रेष्ठ वृंदावन है। गोवर्धन, वृंदावन से श्रेष्ठ है और राधा-कुंड, गोवर्धन से श्रेष्ठ है। जो लोग मानव-रुपी कृष्ण की उपासना करते हैं, जिन्हें श्यामसुंदर (गोविन्दा) कहा जाता है, केवल वे परम धाम प्राप्त करते हैं।

वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद् ।
वृन्दारण्यमुदारपाणिरमणात् तत्रापि गोवर्धनः ॥
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपते प्रेमामृताप्लावनात् ।
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥

क्योंकि श्री कृष्ण वहाँ अवतरित हुए, आध्यात्मिक रूप से मथुरा वैकुंठ से श्रेष्ठ माना जाता है। मथुरा से अधिक श्रेष्ठ वृंदावन के कानन हैं क्योंकि यही वह जगह थी जहां पर श्री कृष्ण ने रास-लीला की थी। गोवर्धन पर्वत को वृंदावन से ज्यादा श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि कृष्ण ने वहां पर अद्भुत लीलाएं की थी और अपने बाएं हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाया था। परन्तु, राधा-कुण्ड गोवर्धन से भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह गोकुल के स्वामी (श्री कृष्ण) के दिव्य प्रेम के अमृत से ओत-प्रोत है। कौन सा बुद्धिमान व्यक्ति गोवर्धन के चरणों में स्थित इस स्थान की सेवा नहीं करेगा? (उपदेशामृत ९)

कृष्ण का परम निवास व्रज भूमि है, जिसमें वृंदावन, गोवर्धन और राधा-कुंड शामिल हैं। श्लोक ६६ में श्री कृष्ण ने 'व्रज' को क्रियापद के रूप में प्रयोग कया है जिसका अर्थ है "जाना", जिसके द्वारा वे अर्जुन को यह संकेत देते हैं कि अर्जुन आध्यात्मिक जगत के परम धाम में कृष्ण के पास आएँगे। यह श्रेष्ठ धाम गोलोक वृंदावन के नाम से भी जाना जाता है और ब्रह्म-संहिता में इसका ऐसे वर्णन किया गया है:

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष ।
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ॥
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम् ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं, मैं उनकी उपासना करता हूँ, जो गायों का पालन कर रहे हैं, उस दिव्य क्षेत्र में जहां निवास स्थान पारस पत्थर के बने हैं। वे असंख्य कल्पवृक्षों से घिरे हैं और सैकड़ों हजारों लक्ष्मी देवियों द्वारा बहुत ध्यान और उत्साह से लगातार सेवित हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.२९)

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षम् ।
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम् ॥
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं ।
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं, मैं उनकी पूजा करता हूँ, जो अपनी बांसुरी बजा रहे हैं और उनकी आँखें कमल की पंखुड़ियों जैसी सुंदर हैं। उनका सिर मोर के पंखों से सुसज्जित है, और उनका आकर्षक रूप, जो वर्षा के बादलों की आभा से सराबोर है, वह इतना मनोहर है कि वह लाखों कामदेवों को मोहित कर देता है। (ब्रह्म-संहिता ५.३०)

आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशी।
रत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम् ॥
श्यामं त्रिभङ्गलसितं नियतप्रकाशं ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं, मैं उनकी उपासना करता हूँ, जिनका गला वन के फूलों की माला से सुशोभित है, जो झूलती रहती है। उनके हाथ, जो उनकी बाँसुरी को पकड़े हैं, वे रत्नों से अलंकृत कंगनों से सुसज्जित हैं। श्यामसुंदर के रूप में तीन स्थानों पर बांका हुआ उनका दिव्य रूप नित्य प्रकट है जैसे वे दिव्य प्रेम के अपने विभिन्न लिलाओं का आनंद लेते हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.३१)

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन ।
सन्तः सदैव हृदयेषुविलोकयन्ति ॥
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्दजी जो आदि पुरुष हैं मैं उनकी पूजा करता हूँ, जिनका ध्यान सदैव वे करते हैं जिनकी आंखें दिव्य प्रेम के लेप से अभ्यंजित होती हैं। श्यामसुन्दर

के रूप में उनका शाश्वत रूप अनंत गुणों से संपन्न है और वे सदा अपने प्रिय भक्तों के हृदयों में वास करते हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.३८)

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरषः कल्पतरवो ।
द्रुमाभूमिश्चिन्तामणिगणमयि तोयममृतम् ॥
कथागानं नाट्यं गमनमपिवंशी प्रियसखि ।
चिदानन्दं ज्योतिः परमपितदास्वाद्यमपि च ॥

मैं श्वेतद्वीप के दिव्य धाम की पूजा करता हूँ, जहां लक्ष्मी देवियां परम पुरुष श्री कृष्ण की प्रिय सहचारियां हैं। उस स्थान पर, हर एक वृक्ष कल्पवृक्ष है; भूमि पारस पत्थर से बनी है; सारा पानी अमृत है; हर शब्द गीत है; हर कदम नृत्य है; बांसुरी सबसे प्रिय मित्र है; प्रकाश आध्यात्मिक आनंद से भरा है और सभी चीजें अत्यंत सम्मोहक हैं; जहां लाखों गायों से दूध का विशाल महासागर लगातार बहता रहता है; जहाँ समय आधे क्षण के लिए भी नहीं बीतता है। उस धाम, गोलोक वृंदावन को केवल कुछ ही आत्मसिद्ध योगी जानते हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.५६)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥१८-६७॥

यह ज्ञान उन लोगों को कभी नहीं बताना चाहिए जो आत्म-संयमित नहीं हैं, जो भक्ति-योग का पालन नहीं करते हैं या जो मुझसे ईर्ष्या करते हैं।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥१८-६८॥

जो मनुष्य दूसरों को भक्ति-योग का सर्वोच्च रहस्य सिखाता है, वह भक्ति के उच्चतम स्थान को प्राप्त कर लेता है और मेरी पूर्ण चेतना प्राप्त करता है। इसमें कोई संदेह नहीं।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥१८-६९॥

ऐसे भक्त से बढ़कर मेरे लिए जगत में और कोई प्रिय नहीं है। और न ही कभी कोई मुझे उतना प्रिय होगा जितना कि वह जो इस सर्वोच्च रहस्य को दुसरो को सिखता है।

अध्येष्यते च य इमंधर्न संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥१८-७०॥

जो लोग हमारे इस पावन वार्तालाप का अध्ययन करते हैं वे मुझे ज्ञान यज्ञ के माध्यम से पूजते हैं। यह मेरा निष्कर्ष है।

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥१८-७१॥

जो लोग इस पावन वार्तालाप को उत्कृष्ट श्रद्धा और बिना किसी ईर्ष्या के साथ सुनते हैं वे परम सिद्धि प्राप्त कर मरे पवित्र धाम पहुंचेंगे।

~ अनुवृत्ति ~

यहाँ, श्री कृष्ण कहते हैं कि जो लोग ईर्ष्यालु हैं उन्हें परम-सत्य का विज्ञान नहीं सिखाया जा सकता है। जबकि, जो व्यक्ति दृढ़ता से कृष्ण भावनामृत के साथ, कृष्ण और अर्जुन के बीच इस पवित्र वार्तालाप का अध्ययन करते हैं और जो इस ज्ञान को ईर्ष्या रहित व्यक्तियों को बताते हैं, वे कृष्ण के प्रिय हैं और वे परम सिद्धि को प्राप्त कर कृष्ण के परम धाम पहुंचेंगे। इसकी पुष्टि गीता-महात्म्य और वैष्णवीय-तंत्र-सार के निम्नलिखित छंदों में की गई है -

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं य: पठेत्प्रयत: पुमान् ।
विष्णो: पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥

जो भगवद्गीता का पाठ दृढ भक्ति से करता है, जिससे सब पुण्य प्राप्त होता है, वह विष्णु / कृष्ण का परम धाम प्राप्त करता है, जो भय और विलाप पर आधारित इस सांसारिक गुणों से परे स्थित है। (गीता-महात्म्य १)

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं यातिसुखेनसः ॥

एक व्यक्ति जो भौतिक पीड़ा के इस भयानक सागर को पार करने की इच्छा रखता है, वह भगवद्गीता की नाव का आश्रय लेकर इसे आसानी से पार कर सकता है। (वैष्णवीय-तंत्र-सार, गीता-महात्म्य ७)

शालग्राम-शिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थेनद्यां पठेगी सौभाग्यं लभतेध्रुवम् ॥

जो व्यक्ति भगवद्गीता का पाठ श्रीमूर्ति या शालग्राम-शिला की उपस्थिति में, परम भगवान् के मंदिर में, या शिवजी के मंदिर में, तीर्थ स्थान में या पवित्र नदी के तट पर करता है - ऐसा व्यक्ति सभी शुभ सौभाग्य प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। (वैष्णवीय तंत्र-सार, गीता-महात्म्य २१)

एतान्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः श्रणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥

श्रद्धावान व्यक्ति, जो गीता का अध्ययन और महिमा गान करता है, निश्चित रूप से वह भगवान् के परम धाम को प्राप्त करता है। (वैष्णवीय-तंत्र-सार, गीता-महात्म्य ८४)

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥१८-७२॥

हे पार्थ, हे धनंजय, क्या तुमने इसे अविक्त ध्यान से सुना? क्या तुम्हारी अज्ञानता और भ्रम नष्ट हुई?

अर्जुन उवाच । नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥१८-७३॥

अर्जुन ने उत्तर दिया - हे अच्युत, हे कृष्ण, आपके अनुग्रह से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मेरा मानसिक संतुलन स्थापित हो गया है। अब जब मेरा संदेह दूर हो गया है मैं पुनः स्थिर हो गया हूँ और अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

सञ्जय उवाच । इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥१८-७४॥

संजय ने कहा - इस प्रकार मैंने वासुदेव और महान अर्जुन के बीच हुए इस वार्तालाप को सुना, जो इतना अद्भुत है कि मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

तद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥१८-७५॥

व्यासदेव की कृपा से, स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा कथित मैंने योग के परम गोपनीय रहस्य को सुना।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥१८-७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रुपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥१८-७७॥

हे राजन, केशव श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य हुई इस प्रगाढ़ वार्तालाप को बारम्बार स्मरण करके मैं बार बार हर्षित हो रहा हूँ। जब में भगवान् श्री कृष्ण के अद्भुत रूप का स्मरण करत हूँ तब मैं विस्मित हो जाता हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्धुवा नीतिमतिर्मम ॥१८-७८॥

जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और पराक्रमी धनुर्धर अर्जुन हैं, वहाँ सदा समृद्धि, विजय, ऐश्वर्य और धार्मिकता रहेगी - यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

~ अनुवृत्ति ~

श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य हुई अलौकिक वार्तालाप श्लोक ७३ में समाप्त हो जाती है जब अर्जुन यह कहते है की उनका भ्रम और संदेह सब दूर हो चुका है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के निर्देशों का पालन करने के लिए अर्जुन तैयार हो जाते हैं। यह गुरु और शिष्य के बीच का आदर्श संबंध है। गुरु को भगवद्गीता में मिले श्रीकृष्ण के इस उपदेशों को बिना किसी परिवर्तन या मिलावट के पहुंचाकर अपने शिष्य के भ्रम और संदेह को दूर करना चाहिए, और शिष्य को ऐसे निर्देशों का पालन करने के लिए निश्चित रूप से तैयार होना चाहिए। श्रीकृष्ण के संदेशों की श्रवण-क्रिया में जो शक्ति है, उसकी पुष्टि श्रीमद्भागवतम् में भी की गई है -

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥

श्री कृष्ण धर्मपरायण के मित्र हैं। वे उन लोगों के हृदय से सभी अशुभता को हटा देते हैं जिन्होंने उनके संदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की है, जिसका उचित रूप में श्रवण और जप पुण्यात्मक होता है। (श्रीमद्भागवतम् १.२.१७)

संजय, श्री कृष्ण और अर्जुन के मध्य के वार्तालाप को सम्राट धृतराष्ट्र को सुना रहे थे और अब वे अपनी तृप्ति और हर्ष को व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि श्री कृष्ण के शब्दों को स्मरण करके और उनके सुंदर रूप को देखते, उन्हें परमानंद और विस्मय का अनुभव होता है। संजय फिर अपनी मंगल कमनाओं के साथ समापन करते हैं कि जहां योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और जहां उनके निष्ठावान शिष्य अर्जुन हैं, वहाँ सदैव समृद्धि, विजय, ऐश्वर्य और धार्मिकता रहेगी। यहां पर श्रीमद्भगवद्गीता की अनुवृत्ति समाप्त होती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अत: व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए मोक्ष योग नामक अठारहवें अध्याय की यहां पर समाप्ती होती है।

। इति श्रीमद्भगवद्गीता संपूर्णम् ।
अत: श्रीमद्भगवद्गीता समाप्त होता है ।

लेखक के बारे में
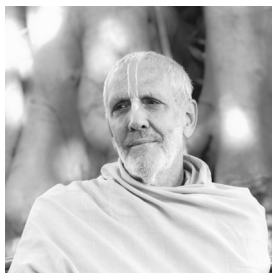
स्वामी भक्ति गौरव नरसिंह का जन्म १९४६ में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ था और वे कैलिफोर्निया, फ्लोरिडा और हवाई में पले-बढ़े और १९६७ में योग का अभ्यास शुरू किया। उसी वर्ष, वे अपने गुरु, ए.सी. भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद से मिले, और १९७० में, वे उनके प्रत्यक्ष शिष्य बन गए। १९७६ में स्वामी नरसिंह ने संन्यास स्वीकार किए और भारत में कई वर्षों तक पवित्र स्थानों की यात्रा की। १९८६ और १९९९ के बीच की अवधि में, स्वामी नरसिंह ने प्रसिद्ध भक्ति-योग-आचार्य स्वामी भक्ति रक्षक श्रीधर महाराजा और स्वामी भक्ति प्रमोद पुरी महाराजा के अधीन भी अध्ययन किए।

१९७० से २०२० तक, स्वामी नरसिंह ने भारत, मैक्सिको, अमेरिका और यूरोप में बड़े पैमाने पर प्रचार किए। २ जनवरी २०२० को उन्होंने ७३ साल की उम्र में दक्षिण भारत में अपने आश्रम में इस दुनिया को छोड़ दिया।

स्वामी नरसिंह ने Clarion Call, Gaudiya Vedanta और Krishna Talk जैसी आध्यात्मिक पत्रिकाओं के लिए कई लेख लिखे। उन्होंने Vaishnava India, Kumbha Mela, Evolution of Theism, The Authorised Sri Chaitanya Saraswat Parampara, प्राकृत-रस अरण्य-चेदिनी, प्रभुपाद विजय, The Meaning of Sannyasa, श्रीदामोदर-कथा, श्री गायत्री मंत्रार्थ दीपिका, भक्तिसिद्धांत सरस्वती ठाकुर की 'प्रकृत-रस शत-दुशिनी' की एक टिप्पणी, भगवद्-गीता पर एक अनुवाद और टिप्पणी, और 'योग-विचार - A Brief Deliberation on the Yoga System' जैसी कई पुस्तकें भी लिखे हैं।

उद्धृत श्लोक सूची

गीता श्लोक सूची

आ

इ

ई

ऐ

ॐ

क

ग

च

छ

द

ध

न

प

ब

भ

म

य

र

ल

व

ह

क्ष

ज्ञा